अध्याय-1

स्वामी दयानन्द सरस्वती

अध्याय–1

स्वामी दयानन्द सरस्वती

तत्कालीन परिस्थितियाँ

देश संकट के दौर से गुजर रहा था। हर जगह कमजोर और निकम्मे राजाओं के पाँव उखड़ रहे थे। भारत में अंग्रेजी राज तेजी से अपनी जड़ें जमा रहा था। पूरा समाज आंतरिक कमजोरियों से ग्रस्त था। लोभी महन्थों और पुजारियों का दबदबा था। जो अपनी स्वार्थ साधने के ताक में लगे रहते थे। आम आदमी सही रास्ते से भटक गया था। सदाचार एवं समझदारी का स्थान धार्मिक अनुष्ठान ने ले लिया था। अंधविश्वास को लोग धर्म मानने लगे थे। लोगों में ज्ञान पिपासा और कौतूहल की भावना खतम हो गयी थी, पुरानी मान्यताएं समाप्त हो रही थीं और नई मान्यताएं अभी प्रतिष्ठापित नहीं हुयी थीं, देश भर में अज्ञान एवं निरक्षरता व्याप्त थी। राजनीतिक नेताओं के पाँव डगमगा रहे थे। संस्कृति के क्षेत्र में कोई मार्ग दर्शक नहीं था। नैतिकता और धर्म के नाम पर कुछ भी नहीं था।

स्त्री का जीवन अंधकारमय था। जन्म से ही वह असमानता का शिकार थी। कभी–कभी तो उसके माता–पिता ही उसकी हत्या कर देते थे। बचपन में ही उसकी शादी कर दी जाती थी। साथ ही, उससे यह भी आशा की जाती थी कि वह अपने पति की चिता पर ही जल मरे। अगर वह सती नहीं होती थी तो उसे विधवा का दुःखमय जीवन जीना पड़ता था। उसके अपने जीवन में दुःख से कभी छुटकारा न मिलता था। सभी उसकी जिन्दगी से नफरत करते लेकिन तरस कोई न खाता।

इतने पर भी दुबारा शादी नहीं कर सकती थी। क्या धर्म ग्रन्थों में निहित उपदेशों के कारण ऐसा होता था? क्या अगले जीवन में सुख पाने के लिए ऐसा किया जाता था? क्या समाज की मान्यताओं को पवित्र बनाये रखने के लिये ऐसा होता था? क्या किसी पावन धर्म के दावे के कारण ऐसा किया जाता था? न कोई इन प्रश्नों को पूछने वाला था और न कोई उत्तर देने वाला। विद्रोह की भावना शायद ही किसी में थी। स्त्रियों के लिये यह पूर्ण और मूक आत्म समर्पण का युग था।

जैसा स्वाभाविक था, हिन्दू समाज अपने ही संरक्षकों के पापों के कारण टूटता हुआ नजर आ रहा था। यह अन्दर से सड़ने लगा था, जिससे बाहर से चुनौतियाँ आने लगीं। हालैण्ड तथा यूरोप और अमरीका के अन्य भागों के प्रोटेस्टेंट मिशनरियों (धर्म–प्रचारकों) ने अपना काम भी शुरू कर दिया था।

असल में यह ईसाई मिशनिरियों की शान्ति पूर्ण घुसपैठ ही थी। उन्होंने स्थानीय भाषा में योग्यता प्राप्त की और इसाई साहित्य प्रकाशित किया। उन्होने छापेखाने खोले तथा अखबार, पुस्तक और पत्र–पत्रिकायें निकाली। उन्होंने मिशनरी केन्द्र, अस्पताल और स्कूल खोले। धर्म बदलने वालों को उन्होंने शिक्षित किया, बीमारों की सेवा–शुश्रूषा और जरूरतमन्दों को रोजगार दिया। विलयम बैंटिक के समय तक भारत के शहरों में मिशनिरियों का होना आम बात हो गयी थी।

सन् 1833 के चार्टर एक्ट के फलस्वरूप मिशनरियों को बिना रोकटोक के भारत आने की सुविधा मिल गयी और उनके काम में उल्लेखनीय प्रगति हुई। 1850 तक भारत में 260 इसाई केन्द्र, 368 विदेशी मिशनरी, 500 ईसाई धर्मोपदेशक, 266 गिरजाघर और 91,265

प्राटेस्टेन्ट ईसाई थे।[1] 1854 में, सरकारी स्कूलों में पढ़ने वाले छात्रों की अपेक्षा मिशनरी स्कूलों में पढ़ने वाले छात्रों की संख्या चौगुनी अधिक थी।[2] स्त्री शिक्षा, व्यवसायिक शिक्षा और प्रशिक्षण संस्थाओं के क्षेत्र में भी मिशनरी आगे थे।[3] उन्होने बंगला, हिन्दी, तमिल, उड़िया, असमिया, मलयालम, मराठी, गुजराती, कश्मीरी और भूटानी में मूल पुस्तकें निकाली।[4] अकाल और महामारी के समय सहायता कार्य मुख्य रूप से ये लोग ही करते थे। मिशनरी स्त्रियों के उद्धार, सभी वर्गो की समानता, तर्क और युक्ति की विजय, शिक्षा के प्रसार तथा न्याय और मानवता को आधार मानकर सुधार का काम करने के प्रतीक बन गये थे।

उनमें छुआछूत और गुलामी जैसी बुराईयाँ नहीं थीं। उनके पास काफी साधन थे। उन्होंने पूरे यूरोप और अमरीका से धन इकट्ठा किया। सरकार और ईस्ट इण्डिया कम्पनी से उन्हें पूरा प्रोत्साहन मिला। देश के लोग जो कर देते थे उससे उन्हें धन दिया गया और गिरजाघर बनाये गये। 'लाट पादरी' के आने पर उनके सम्मान में तोप की सलामी दी जाती। उन्हें सैनिकों के साथ एक से दूसरे सैनिक क्षेत्र या छावनी तक जाने की अनुमति दी गयी। बन्दियों का धर्म परिवर्तन कराने वे जेलों में गये। राजघरानें के सदस्यों का धर्म–परिवर्तन कराने में भी उन्हें सहायता दी गयी। गिरजाघरों में धर्म–परिर्वन के लिये लोगों को लाने वालों को तरक्की दी जाती।

इतनी सहायता पाने तथा निजी उपयोगिता, प्रगतिवाद, पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार और रेलों के विस्तार के कारण भारत के बहुत बड़े क्षेत्र

1. विशेश्वर प्रसाद, 'आइडियाज इन हिस्ट्री', पृष्ठ 58 (एच०एल० गुप्त का लेख)।
2. वही, पृष्ठ 63
3. वही
4. वही

में ईसाई धर्म फैल गया। इसाई धर्म की इस चुनौती का सामना करने की स्थिति में हिन्दू धर्म नहीं था। मिशनरी उस पर लगातार चोट करते। वे मूर्तिपूजा का मजाक उड़ाते, जाति प्रथा की आलोचना करते और हिन्दू रीति–रिवाजों, देवी–देवताओं तथा संस्थाओं की भर्त्सना करने के लिये कभी–कभी अपमान जनक शब्दों का प्रयोग करते।

हो सकता है अपना धर्म छोड़कर ईसाई बनने वालों की संख्या अधिक न हो। लेकिन लोगों का दृष्टिकोण बदल गया। भारतीय युवा वर्ग ने अपने धर्म और इतिहास की सर्वोत्तम परंम्पराओं से भी अपना मुँह मोड़ लिया। वह पाश्चात्य संस्कृति की बदरंग नकल हो गया। वह अपनी सभ्यता और देश के प्राचीन स्वरूप के बारे में लज्जित नहीं तो अशांत जरूर हो गया। अंग्रेजी उसके लिये संस्कृति और प्रगति की भाषा हो गयी। मैकाले का यह कहना गलत नहीं था कि अंग्रेजी पुस्तकों की बड़ी माँग है जब कि संस्कृत और अरबी पुस्तकों के खरीदने वाले नहीं है।[1] पाश्चात्य ज्ञान और तौर–तरीके के लिये लोगों का उत्साह इस घटना से समझा जा सकता है। 1823 में जब कलकत्ते में संस्कृत कालेज की स्थापना की गयी तो राजाराम मोहनराय ने इसके विरोध में लार्ड एमहर्स्ट के पास अपना विरोध प्रकट किया।[2] 1829 में कलकत्ता टाऊन हाल में एक सभा हुई। द्वारिका नाथ ठाकुर ने प्रस्ताव किया कि सारे प्रतिबन्ध हटा कर अधिक से अधिक यूरोप वासियों को भारत में बसाने में मदद की जानी चाहिये, राजाराम मोहनराय ने इसका समर्थन किया और यह पास हो गया।[3] ऐसा समय भी आया जब कुछ हिन्दू छात्र, यह साबित करने के लिये कि वे पश्चिमी सभ्यता में पूरी तरह

1. विशेश्वर प्रसाद– आइडियाज इन हिस्ट्री, पृष्ठ–50 (बी० एन० दत्त का लेख)
2. वही, पृष्ठ–45
3. विशेश्वर प्रसाद– आइडियाज इन हिस्ट्री, पृष्ठ–285 (वी०वी० मजूमदार का लेख)

ढल चुके हैं, अपने होस्टलों में गौमांस लाये। इसी प्रकार अफीम और शराब का प्रयोग बढ़ गया। ऐसा लगता था कि उज्जवल अतीत और महान सभ्यता वाले लोगों के पास जो आंन्तरिक समृद्धि और आत्मविश्वास होता है वह पूरी तरह बिखर रहा था।

ऐसे ही समय में हिन्दू धर्म को अपने सबसे बड़े संरक्षक और सुधारक की जरूरत थी और वह उसे स्वामी दयानन्द सरस्वती के रूप में मिला।

स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवन परिचय

गुजरात प्रदेश के कठियाबाड़ क्षेत्र में मोरवी राज्य के अन्तर्गत टंकारा ग्राम में सन् 1824 में, ओदिच्य ब्राह्मण श्री कर्षण जी लाल जी त्रिवेदी के घर पर एक शिशु ने अपने जीवन के प्रथम सूर्य का दर्शन किया। उनका नामकरण मूल शंकर किया किया गया। उनके पिता एक जमींदार थे जो साहूकारी भी करते थे और रियासत की ओर से अपने क्षेत्र में मालगुजारी भी वसूल किया करते थे। पाँच वर्ष की आयु में बालक की शिक्षा आरम्भ हुई। उसे देवनागरी लिपि के ज्ञान के साथ–साथ श्लोक तथा मंत्र कण्ठस्थ कराये गये। आठ वर्ष की अवस्था में उपनयन संस्कार सम्पनन किया गया। मूल शंकर ने 14 वर्ष की अवस्था तक कुलागत, गायत्री, संध्या रूद्राध्याय तथा यजुर्वेद कण्ठस्थ कर लिया। उसके लिये प्रबोध रात्रि रही। जब अपने कुलव्रत शिवरात्रि के अनुष्ठान को निभाने के लिये पिता जी के आदेश पर सन्नद्ध हो गया। वह शिवरात्रि में मन्दिर में उपवास करके शिवपुराण आदि में सुने शिव माहातम्य की गरिमा को ध्यान में रखते हुये जागरण कर रहा था। सभी

पुजारी और उनके पिता अर्द्धरात्रि के पाश्चात्य निद्रा में निमग्न हो गये। बालक ने देखा कि "मन्दिर के बिल में से एक चूहा निकल कर शिव जी की पिण्डी के चारो ओर घूमने लगा, फिर वह कूदकर मूर्ति के ऊपर चढ़ गया और अक्षत, नैवेद्य आदि पर हाथ साफ करने लगा। उस समय चित में विविध प्रकार के विचार उत्पन्न हुये। प्रश्न यह था कि जिसकी हमने कथा सुनी थी, वही यह माहादेव हैं या अन्य कोई?.........महादेव जो कथा में सुना, सम्भव है वह परम्ब्रह्म हो जिसके सिर पर चूहे दौड़ते फिरते है... ....जो शिव अपने पाशुपतास्त्र से बड़े–बड़े दैत्यों का संहार करता है, क्या उसे एक तुच्छ चूहे को भगाने की भी शक्ति नहीं है।"

पिता के नाम के विषय में स्वयं स्वामी दयानन्द अपने आत्मचरित में मौन हैं। श्री लेखराम ने अपने अन्वेषण से उनका नाम अम्बाशंकर त्रिवेदी बताया, परन्तु देवेन्द्रनाथ मुखर्जी ने गुजरात की यात्रा करके उनके जीवन चरित्र में उनका नाम कर्षण जी त्रिवेदी दिया।

स्वामी दयाननद की बाल्यावस्था के विषय में 15 अगस्त सन् 1875 में पूना में उनके दिये गये भाषण और थियोसोफिस्ट के कुछ अंको से जानकारी मिलती है। स्वामी जी जानबूझ कर इस सन्दर्भ में बहुत प्रकाश नहीं डालना चाहते थे। वे अपने सम्बन्धियों की जानकारी देने से बचना चाहते थे।

उपरोक्त घटना ने मूलशंकर के दिव्य चक्षु को अनावृत कर दिया। उनकी शंकाओं का समाधान न पिता कर सके और न कोई पण्डित। उन्होंने सच्चे शिव की खोज का निश्चय कर लिया और मन्दिर से घर वापस आ गये। माता द्वारा दिये गये मोदक को खाकर उन्होने अपने

उपवास व्रत का खण्डन कर दिया जिसका ज्ञान होने पर उनको अपने पिता का कोप भाजन बनना पड़ा।

सच्चे शिव की तलाश में उनके मस्तिष्क में व्यकुलता तो थी ही कि इसी अनन्तर दो मर्माहत घटनायें घटीं जिससे वे विचलित हो गये। उनकी 19 वर्ष की अवस्था में उनकी 14 वर्ष की बहन का प्राणोन्त हैजा के कोप से हो गया। वे बिना अश्रुपात किये एकटक अविचलित भाव से उसे देखते रहे। लोग उसे पाषाण हृदय की संज्ञा दे रहे थे परन्तु वह सोच रहा था–

"एक दिन मुझे भी मृत्यु का सामना करना पड़ेगा, उस समय मृत्यु के दुःख से मुक्ति के लिये औषध कहाँ ढूँढता फिरूँगा और मुक्ति प्राप्ति के लिये किस पर भरोसा करूँगा? तब जिस प्रकार भी हो सके मुक्ति को हस्तगत करना चहिये।" इस घटना के तीन वर्ष के पश्चात् उसके हितैषी विद्वान चाचा भी इसी रोग से काल कवलित हुये।

यह बालक आंसुओं को रोक न सका और रोत–रोते उसके नेत्र सून गये। उसके मन में अमरता के साधनों की जिज्ञासा प्रबल हो गयी। स्वयं उसने कहा "उस दिन मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं भी चाचा के सदृंश एक दिन मरने वाला हूँ।"

मूल शंकर को परिणयसूत्र में बाँधने की योजना बनने लगी लेकिन वे अपने परिवार तथा सम्बन्धियों के मायाजाल को तोड़कर एक सान्ध्यबेला में घर का त्याग कर दिये और फिर कभी भी वापस नहीं आये। यह मूलशंकर का महाभिनिष्क्रमण था। 21 वर्ष की अवस्था में सच्चे शिव के खोज का दृढ़ संकल्प लेकर मृत्यु तथा दुःख से मुक्ति

पाने के लिये उन्होंने घर के भोग विलास को त्यागकर बीहड़ जंगलों का रास्ता चुन लिया।

संन्यास-दीक्षा-योगमार्ग का अन्वेषण

सन् 1846 में किसी दिन मूलशंकर ने महाभिनिष्क्रमण दिया। वे और अधिक अध्ययन करने तथा योगाभ्यास की पूरी प्रक्रिया जानने की धुन में थे। पकड़े जाने के डर से वे सार्वजनिक मार्गों को छोड़ कर उबड़–खाबड़ सूनी पगडंडियों से भागते रहे। साधुवेषधारी ठगों ने दो बार उन्हें ठगकर बहुमूल्य अंगूठियों तथा रेशमी वस्त्रों को ले लिया। अपना वेष बदलने के लिये एक ब्रह्मचारी से लेकर वे शुद्ध चैतन्य ब्रह्मचारी बन गये। ये पील वस्त्रधारी ब्रह्मचारी सिद्धपुर के मेले में योगियों को खेजता हुआ एक शिव मंन्दिर के चबूतरे पर बैठ गया। यकाएक उनके पिता चार सिपाहियों के साथ उन्हें धर पकड़ते है और उनका पीतवस्त्र फाड़ देते हैं। उनके ऊपर कड़ा पहरा बैठा दिया गया। इसके बावजूद भी रात में प्रहरियों के सो जाने पर वे चुपके से भाग पड़े और फिर उन्हें कोई भी पकड़ नहीं सका। नर्मदा नदी के तट पर घने जंगलों के बीच योग विद्या सीखने में तल्लीन उनका साथ एक दक्षिणी ब्रह्मचारी से हुआ। उनके साथ श्रंगेरी मठ आकर वे पूर्णानन्द सरस्वती के चरणों में शरणागत हुए और संन्यास की दीक्षा देने की प्रार्थना की। पूर्णानन्द को 24 वर्ष के हृष्ट–पुष्ट ब्रह्मचारी को दीक्षित करने में स्वाभविक संकोच तो हुआ लेकिन उनकी निष्ठा, श्रद्धा तथा गृहत्याग का देखकर पूर्णानंन्द जी ने दण्ड हाथ में देकर शुद्ध चैतन्य से उन्हें दयानन्द सरस्वती में परिणत करके संन्यास की दीक्षा दे दी। अब वो न मूलशंकर रहा, न शुद्ध चैतन्य ब्रह्मचारी। स्वयंपाकी ब्रह्मचारी को भोजन

बनाने में बहुत समय लग जाता था। अब वे निर्द्वन्द होकर अपना सारा समय अध्ययन तथा योगाभ्यास में लगाने लगे।

अब स्वामी दयानन्द सरस्वती ज्ञान की पिपासा में तल्लीन विद्वानों, योगियों तथा महात्माओं की तलाश में नर्मदा तट से हिमालय के उच्च शिखरों तक पर्यटन करते रहे तथा निरभिमान भाव से कृतज्ञता पूर्वक ज्ञानामृत का पान करने लगे चाहे जहाँ सुलभ हो जाये। स्वामी जी ने टिहरी राज के राजपण्डित के यहाँ अनेक दुर्लभ संस्कृत ग्रन्थों का अवलोकन किया। तन्त्र ग्रन्थों में पंचमकार–"मद्यमांस च मीनं चे मुद्रा मैथुनमेव च। एते पंचमकाराः स्मुमोक्षदा हि युगे–युगे"–काली तन्त्र, के सेवन विशेषतः मदिरापान आदि का विधान देखकर तथा अन्य अश्लील ऊट पटांग बातों को पढ़कर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाल लिया कि इन तन्त्रो के रचयिता धूर्त, स्वार्थी व्यक्ति थे। उनके पास जो भी तन्त्र ग्रन्थ थे उनको फेंक दिया।[1] उन्होंने सुना कि तुर्गनाथ की चोटी पर स्थित मन्दिर में ब्रह्मज्ञानियों के दर्शन होंगे। कष्टों के साथ वहाँ आरोहण करने पर ज्ञात हुआ कि वहाँ भी पुजारियों का आडम्बर मात्र है। बीहड़ जंगल से होते हुये वे ओखी मठ पहुँचे। स्वामी जी के ओजस्वी चेहरे तथा गम्भीर अध्ययन से प्रभावित होकर इस मठ का महन्त उन्हें सम्पूर्ण सम्पत्ति का अधिकारी घोषित करने को तत्पर हो गया। इस पर स्वामी जी ने कहा, मेरे पिता की सम्पत्ति आप की पूजा पाठ द्वारा अर्जित पूंजी से कहीं अधिक थी। मैंने जब उसे ही मिट्टी के ढेले के समान त्याग दिया, तो आपकी धन–सम्पत्ति कौन इन्द्रासन तथा कुबेर का ढेर है जिसमें मै बँध जाऊँ? मैने संसार का त्याग ऐश्वर्य, भोग के लिये नहीं

1. सत्यार्थ प्रकाश : समुल्लास 11. पृष्ठ– 262

किया है। गृहत्याग के समय तो मुझ पर एक ही धुन सवार थी—सच्चे शिव की प्राप्ति और मृत्यु से मुक्ति।[1]

स्वामी जी इसी धुन में वनों, पर्वत, शिखरों, प्राचीन मन्दिरों, गुफाओं और सिद्ध आश्रमों में भ्रमण करते रहे। स्वामी जी ओखीमठ से जोशी मठ आये। वहाँ कुछ महाराष्ट्री संन्यासियों के सानिध्य में उन्होंने आध्यात्मिक ज्ञान में प्रवीणता प्राप्त की। उन्हें पता चला कि आस पास की सिद्धों की गुफाओं में कुछ पहुँचे हुये महात्मा हैं। उनसे सम्पर्क स्थापित करने हेतु वे बदरीनारायण की ओर चल पड़े। अलकनन्दा की धारा के साथ ऊपर चढ़ते हुये उसके उद्गम स्थान पर जा पहुँचे। हिमाच्छादित पर्वत शिखरों के बीच उनके मन के विचार प्रस्फुटित हुये, "जिस पहाड़ पर पुरानी अलकापुरी थी उस पर भी वे इस विचार से गये थे कि— एक बार ही अपना शरीर बर्फ से गलाकर संसार के द्वन्दों से निवृत्त हो जाऊँ, परन्तु वहाँ पहुँच कर विचार आया कि इस जगह पर मर जाना तो कोई पुरूषार्थ नहीं, अपितु ज्ञान प्राप्त करके परोपकार करना पुरूषार्थ है। इस विश्वास के बदलने पर लौट आया।[2]

शरीर से सहज छुटकारा तो बर्फ में गलाकर हो जाता, परन्तु वास्तविक मुक्ति तो न हो पाती । अब वे नीचे मैदान में उतर आये। उन्हें कोई महात्मा तो न मिले। चरस और गांजे का दम लगाने वाले साधु तो अवश्य मिल गये। अलकनन्दा के नुकीले हिमखण्डों से पूर्ण धारा को पार करने में वे लहुलुहान हो गये। शीत से जकड़ जाने के बावजूद भी वे जोशी मठ तक चले आये।

---

1. म० यदुवंश सहाय : महर्षि दयानन्द, पृष्ठ–41
2. महर्षि दयानन्द के सर्वश्रेष्ठ भाषण', पृष्ठ–87

शव-परीक्षा और सत्यान्वेषण

गंगा तट पर चलते हुये वे गदमुक्तेश्वर पहुँचे। वहाँ गंगा मं एक शव बहा जा रहा था। स्वामी जी के पास टिहरी राज्य से प्राप्त अभी नाड़ी परीक्षा के कई ग्रन्थ थे। उन्होंने सोचा कि अवसर का लाभ उठाये। परीक्षा कर ली जाये कि ये शरीर–विज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थ भलि–भाँति परीक्षण को स्वीकार नहीं करते थे। किसी तरह धारा में से शव को तट पर लाकर एक पैनी छुरी से पहले हृदय और उसके बाद विभिन्न अंगो का छेदन करके उन्होंने पुस्तकों से मिलाया। उनके विवरण मेल नहीं खाते थे। अतः सभी पुस्तकों को भ्रान्त मानकर शव के साथ ही गंगा में प्रवाहित कर दिया।

स्वामी जी को घर छोड़े 12 वर्ष बीत चुके थे। वे गुजरात, राजस्थान और उत्तर भारत में हिमालय के शिखरों तक और फिर गंगा तट के साथ अनेक प्रदेशों में भ्रमण करते रहे। सत्य ज्ञान की प्राप्ति के प्रयास के साथ–साथ वे प्रत्यक्ष रूप से भारत में व्याप्त अज्ञान, आडम्बर, अन्धविश्वास और रूढ़िवादिता, पराधीनता की हीन भावना तथा गरीबी का साक्षात् अनुभव करते रहे।

सन् 1857 के गदर के समय से 1860 तक की अवधि के विषय में प्रायः सभी जीवन–चरित्र लेखक मौन हैं। स्वामी दयानन्द ने हेनरी अल्काट, प्रधान, थियोसोफिकल सोसाइटी को अपना जीवनवृत्त बताते समय सन् 1857 के प्रारम्भ से अक्टूबर 1860 तक के विष्य में केवल यही बताया था कि वे मध्य भारत के जंगलो में भ्रमण करते रहे। अंग्रेजों की गुलामीं के विरूद्ध विद्रोह के समय वे क्या करते रहे यह रहस्यपूर्ण है। मूर्तिपूजा का खण्डन करते हुए वे प्रसंग वश कह पड़ते हैं "जब

1857 में अंग्रेजों ने तोपों से मन्दिर उड़ा दिये थे, तो मूर्तियाँ कहाँ गयी थी? बघेलों ने तो वीरता की और शत्रुओं को मारा, परन्तु मूर्ति एक मक्खी की टांग भी न तोड़ पाई। यदि श्री कृष्ण के सदृश कोई होता तो उनके धुरे उड़ा देता और वे भागते फिरते। भला ये तो कहो, कि जिसका रक्षक मार खाये, उसके शरणगत क्यों न पीटे जायें।"[1]

इससे निष्कर्ष निकलता है सन् 1857 में अंग्रेजों की तोपों का मुकाबला करते बघेलों की वीरता उन्होंने देखी थी। उनकी प्रबल इच्छा थी कि श्री कृष्ण जैसा कोई शूरवीर अंग्रेजों के दांत खट्टे करता। अतः पराधीनता दूर करने की उनकी प्रबल इच्छा थी।

स्वामी दयानन्द नाना साहब पेशवा के गुरू थे। अगर स्वामी जी न होते तो पेशवा ने 1857 की हार के बाद आत्महत्या कर ली होती। स्वामी जी ने उहें आत्महत्या करने से रोका और आदेश दिया कि अवसर आने पर वे दूसरे युद्ध लड़ें। उन्होंने नाना साहब को संन्यासी बना कर धार्मिक जागृति करने का गुरू मंत्र दिया। स्वामी ने कहा, "भारत की पश्चिम सीमा की तरफ किसी मठ या मन्दिर में रहकर आप जनसेवा के लिये जीवन दान कीजिये। मनुष्यों को परमार्थिक कल्याण के लिये उपदेश दीजिये। ऐहिक कल्याण के लिये रोगियों को बिना मूल्य वृक्षों के मूल और पत्तियों से पोषण बनाकर वितरण करते रहिये। मृत्यु तक शान्ति और आनन्द के साथ शेष जीवन बिता सकेगें। आप आत्महत्या कभी न करें। मैने नाना साहब को सन्यास देकर उनका नाम दिव्यानन्द स्वामी रख दिया था।"[2]

---

1. सत्यार्थ प्रकाश, समुल्लास 11, पृष्ठ–339
2. धर्म युग, 15 मई 1977, पृष्ठ–8

अतः स्पष्ट है कि स्वामी जी इन विद्रोहियों के साथ भ्रमण कर रहे थे। वे सन् 1860 तक अमरकंटक की यात्रा करते रहे।

आदर्श शिष्य और आदर्श गुरूदक्षिणा

अमरकंटक से वन–प्रान्तरों और ग्रामों से होते हुये वे दण्डी विरजाननद जी से मिलने मथुरा की ओर चल पड़े। एक जंगल से सटे गांव में दुर्गाष्टमी के पर्व पर वे बलिदान का बकरा बनते–बनते बच गये। ग्राम के शाक्त मुखिया और पुजारी ने छल से स्वामी जी की बड़ी आवाभगत की। अष्टमी के दिन उन्हे मन्दिर में बड़े आदर के साथ ले गये और यकाएक उन्हे तलवार से उनके सिर को धड़ से अलग कर देवी के सामने भेंट चढ़ानी चाही।

स्वामी जी ये दुरभिसन्धि ताड़ गये और बधिक की तलवार को छीनकर हथियारों से लैस भीड़ का सामना करते हुये दीवाल फांद कर वाहर निकल गये। इस नरबलि की तथा पशुबलि की कुप्रथा ने उनके रोंगटे खड़े कर दिये। इस प्रकार के जधन्य कुप्रथाओं को निर्मूल करने का वे प्रण कर बैठे।

कार्तिक सुदी 2 संवत् 10131 सन् 1860 को स्वामी जी दण्डी विरजाननद जी की कुटिया पर पधारे। 81 वर्षीय प्रज्ञाचक्षु दण्डी जी ने दयानन्द की परीक्षा ली और प्रतिभावान समझ कर अपना शिष्य बना लिया। वे आर्य ग्रन्थों के भक्त थे तथा अष्टाध्यायी महाभाष्य, निरूक्त आदि का अध्यापन करते थे। उन्होंने बड़े लगन से गुरू की सेवा की और ढाई वर्ष में अपना गहन अध्ययन समाप्त कर लिया। गुरू को आज तक ऐसा विनम्र, प्रतिभाशाली और श्रद्धालु शिष्य नहीं मिला था। प्राचीन गुरू दक्षिणा की पद्धति के अनुसार स्वामी जी ने अपने गुरू को प्रिय

कुछ लोग ही उपहार में समर्पित किये ओर इससे अधिक उनकी सामर्थ्य न थी। गुरू ने कहा 'मुझे देने के लिये तेरे पास कुछ है, शिष्य ने सर्वस्व समर्पण की आत्म स्वीकृति दी। गुरू ने दक्षिणा मांगी, वत्स! भारत देश में दीन–हीन जन अनेक विध दुख पा रहे हैं। जाओ। उनका उद्धार करो। मत–मतान्तरों के कारण जो अनेक कुरीतियाँ प्रचलित हो गयी हैं, उन्हे निवारण करें। आर्य जनता की बिगड़ी दशा को सुधारो। कुसंस्कारों और अन्धविश्वसों को दूर करके आर्य सन्तानों को उबारो। पठन–पाठन की आर्य शैली प्रचलित करके वैदिक और आर्य ग्रन्थों को पढ़ने–पढ़ाने में लोगों को प्रवृत्त करो। गंगा–यमुना के निन्तर गतिशील प्रवाह की भाँति लोकहित की कामना से क्रियात्मक जीवन व्यतीत करो। प्रिय पुत्र! गुरू दक्षिणा में मुझे यही सब कुछ तुमसे पाने की इच्छा है और आशा है तुम उसे पूर्ण करोगे।"[1] शिष्य ने गुरू के आदेश को आत्मसात् किया। आदर्श शिष्य की यही आदर्श गुरू दक्षिणा थी।

देश सुधार और पाखण्ड खण्डन

अब स्वामी जी 40 वर्ष के हो चुके थे। उन्होंने सच्चे शिव और अमरता की तलाश में 22 वर्ष की अवस्था में घर से नाता तोड़ा था और अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रतधारण किया। तदन्तर 16 वर्ष तक नदियों, जंगलों, पहाड़ो, मैदानों के चप्पे–चप्पे का पर्यटन किया और देश की हीन दशा तथा पराधीनता का प्रत्यक्ष अनुभव किया। इस अवधि में उनका योगाभ्यास तथा स्वाध्याय का क्रम भी बना रहा। 38 वर्ष की आयु में वे योग्य गुरू के चरणों में बैठकर तीन वर्ष तक प्राचीन आर्य साहित्य का गम्भीर अध्ययन किये और गुरू दक्षिणा में देश–सुधार के प्रण का अर्पण

---

1. यदुवंश संहाय : 'महर्षिदयानन्द', पृष्ठ–71

किया। अब वे शारीरिक–मानसिक तथा आध्यात्मिक रूप से परिपुष्ट हो चुके थे तथा अपने प्रण को पूरा करने के लिए प्रतिबद्ध होकर जगत के क्रियाशील क्षेत्र में उतर पड़े।

सुधार कार्य के चार सोपान

अ. असत्य और पाखण्ड का खण्डन

ब. शास्त्रार्थ और प्रवचन

स. सत्य प्रकाशार्थ ग्रन्थ प्रणयन.

द. सामाजिक संस्थाओं की स्थापना–आर्य समाज

असत्य और पाखण्ड का खण्डन

देश की कुप्रथाओं, भ्रष्टाचारों, अन्धविश्वासों और रूढ़ियों के निवारण के लिये उन्होंने सर्वप्रथम खण्डन प्रणाली का आश्रय लिया। वे मूर्ति पूजा के कट्टर विरोधी थे। उनका प्रथम प्रबोध मूर्तिपूजा के दृश्य से ही हुआ था। वे अवतारवाद को भ्रान्त समझते थे। बलि प्रथा के वे स्वयं भुक्त भोगी थे और मन्दिरों तथा मठों में अनाचार तथा विषयभोग के वे साक्षात् दृष्टा थे। अतः इन सबके विरूद्ध उनके तर्क का कठोर कुठार उठ गया। आगरा, ग्वालियर, जयपुर, पुष्कर, अजमेर होते हुये वे हरिद्वार पहुँचे। "जहाँ एक ओर कुम्भ पर एकत्रित हुआ जनसमूह देशभर के हिन्दुओं की मौलिक एकता को सूचित करता है, वहाँ साथ ही वह हिन्दुओं की नासमझी और अन्धी श्रद्धा में एकता को भी सुचित करता है।"[1] उन्होंने हिन्दुओं की इस महान और अन्ध श्रद्धा की एकता को

1. पं० इन्द्र विद्या वाचस्पति : 'महर्षि दयानन्द', 1875 सं०, पृष्ठ–40

तोड़ने के लिए अपनी पाखण्ड खण्डिनी पताका गाड़ दी और जोर–शोर से खण्डन प्रारम्भ कर दिया। भोली भाली जनता उनकी ओजस्विता से प्रभावित होने लगी। वे काषाय वस्त्र त्यागकर एक मात्र कोपीनधारी बन गये और ग्राम–ग्राम, शहर–शहर अपनी सच्ची बात की साधना हेतु निकल पड़े।

शास्त्रार्थ और प्रवचन

वे जहाँ भी जाते वहां की विद्वतमण्डली से शास्त्रार्थ करते थे तथा सत्य के ग्रहण और असत्य के परित्याग पर बल देते रहे। इन शास्त्रार्थो के सभापति प्रायः गणमान्य अधिकारी और कलक्टर आदि रहा करते थे। 31 जुलाई सन् 1869 में एक शास्त्रार्थ कानपुर में बीस हजार व्यक्तियों की भरी सभा में स्वामी जी और हलधर ओझा के बीच वेदों में मूर्तिपूजा पर सम्पन्न हुआ। श्री डब्ल्यू धरिया असिस्टेन्ट कलक्टर निर्णायक थे। धारिया ने निर्णय दिया कि स्वामी जी की युक्तियां वेदानुकूल थीं। ओझा ने उर्दू में एक विज्ञापन निकाला। "अनेक बाह्मण, क्षत्रिय और वैश्य दयाननद सरस्वती की शिक्षा का अनुसरण करते हुये अपने कुलधर्म को छोड़ रहे हैं और अपनी देव प्रतिमाओं को गंगा में फेक रहे हैं, यह अनुचित बात है इसलिये यह विज्ञापित किया जाता है कि जो उनके विचारों को मानने लगे हैं वे महाराज गुरूप्रसाद शुक्ल या महाराज प्रयाग नारायण तिवारी के मन्दिर में आयें। यदि उनके पास आने का समय न हो तो मुझे सूचित कर दें। मैं उन्हे स्वयं ले जाऊँगा।"[1]

सबसे प्रसिद्ध शास्त्रार्थ काशी का शास्त्रार्थ था, जिसने स्वामी जी के यश को दिग्दिगन्त में फैला दिया और विद्वत मण्डली की पराजय से

1. ओझा हलधर–स्वामी दयानन्द सरस्वती : हिज लाइफ एण्ड टीचिंग, पृष्ठ–85

जनसामान्य में स्त्रीपूजा की अशास्त्रीयता का भाव फैल गया। 22 अक्टूबर 1869 में स्वामी जी ने काशी पधार कर शास्त्रार्थ के लिये पण्डित मण्डली को ललकारा। अन्ततः काशी नरेश इश्वरी नारायण सिंह ने 16 नवम्बर को पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिये प्रस्तुत किया ओर स्वयं सभापतित्व भी किया। वेदों में मूर्तिपूजा विवाद का निर्णय रहा। पुलिस का प्रबन्ध किया गया, स्वामी विशुद्धानन्द, पंडित बालशास्त्री, पंडित माधवाचार्य, पंडित शिवशास्त्री आदि दिग्गज विद्वान उपस्थित हुये। कोई भी पण्डित वेद का प्रमाण मूर्तिपूजा के पक्ष में प्रस्तुत न कर सका अन्त में पूर्व योजना के अनुसार काशी नरेश के ताली पीटेने पर चार घंटे के वितण्डावाद के बाद जय जयकार करते हुए उठकर चले दिये। पत्थरों की वर्षा की गयी पर स्वामी जी अडिग रहे। पण्डित सत्यव्रत साम शर्मा ने अपनी पत्रिका नन्दिनी में स्वामी जी के विजय का समाचार छापा। रूहेलखण्ड समाचार पत्र, हिन्दू पैट्रियाट आदि ने भी विजय की घोषणा की। कालान्तर में काशी नरेश ने अपने पक्षपात की ग्लानि का अनुभव किया और उन्हे यहाँ बुलाकर सम्मानित किया।

शास्त्रार्थों के अतिरिक्त स्वमी जी ने प्रवचन प्रणाली भी प्रारम्भ किया। वे प्रातः या सायं नियत समय पर उपदेश देते थे जिसमें प्राचीन वैदिक संस्कृति की विशेषताओं, इतिहास और सदाचरणों पर प्रकाश डाला जाता था। इस तरह के कलकत्ता तथा पूना के प्रवचन प्रसिद्ध हैं। उत्तर प्रदेश की यात्रा समाप्त करते हुये बिहार में पटना, मुंगेर और भागलपुर होते हुये वे 16 दिसम्बर 1872 में कलकत्ता पधारे। समाचार पत्रों में तथा संस्कृत, हिन्दी, बंगला ओर अंग्रेजी की विज्ञप्तियों में उनके आने की सूचना दे दी गयी। पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न, पण्डित तारा नाथ वाचस्पति, श्री राजनारायण बोस, केशवचन्द्र सेन और श्री ब्रिजेन्द्र

नाथ टैगोर जैसे प्रसिद्ध विद्वान उनसे मिलने आते रहे। केशव चन्द्र सेन के घर पर जो प्रवचन स्वामी जी ने किया उसके विषय में श्री नगेन्द्रनाथ चटोपाध्याय ने स्वामी दयानन्द के जीवन चरित्र में लिखा है, "जब मैंने पहली बार स्वमी जी को केशव चन्द्र सेन के घर पर प्रवचन करते सुना तो मुझे एक नयी बात का ज्ञान हुआ। तब तक मैं नहीं जानता था कि कोई इतनी मधुर और सरल संस्कृत में बोल सकता है। वह इतनी सरल शैली में भाषण कर रहे थे कि जो थोड़ी सी भी संस्कृत जानता था आसानी से उनकी बात समझ सकता था। एक और बात थी जिसने मुझे आश्चर्यचकित किया। मैंने कभी इससे पहले एक संन्यासी के मुख से जो अंग्रेजी का एक शब्द भी नहीं जानता था, धार्मिक और सामाजिक प्रश्नों पर इतने प्रगतिशील विचार नहीं सुने थे।"[1]

कलकत्ता में अनेक स्थानों पर उनके भाषण हुये और धर्मतत्व जैसे बंगाली समाचार पत्रों में स्वामी जी की सरल संस्कृत और प्रगतिशील विचार धारा से भेंट के कुछ प्रसंग स्मरणीय है। सेन जी ने कहा, खेद है कि वेदों का अद्वितीय विद्वान अंग्रेजी नहीं जानता। स्वामी जी हँसकर बोले, "बड़े दुःख की बात है कि ब्राह्मण समाज का नेता अपने पूर्वजों और धर्म की भाषा संस्कृत नहीं जानता है। वह अपने देशवासियों को विदेशी भाषा में उपदेश देता है।"[2] परन्तु दोनों एक दूसरे से बहुत प्रभावित हुये। केशव बाबू के अनुरोध पर स्वामी जी ने आर्य भाषा हिन्दी में भाषण देने का वचन दिया ताकि जनसाधारण उन्हे समझ सके और पूरे शरीर पर वस्त्र धारण करना मान लिया ताकि सभा आदि में किसी प्रकार का संकोच न हो। केशव जी ने भी संस्कृत सीखना प्रारम्भ कर दिया।

---

1. नागेन्द्र नाथ चट्टोपाध्याय–'स्वामी दयानन्द सरस्वती : हिज़ लाइफ़ एण्ड टीचिंग्स,' पृष्ठ–79
2. महर्षि दयाननद के सर्वश्रेष्ठ भाषण,' पृष्ठ–36

कलकत्ता से लौटते समय स्वामी जी थोड़े दिन के लिये काशी में ठहर गये। उन दिनों सर सैयद अहमद खां भी वहां थे। वे स्वामी जी के दर्शनों को आते और अंग्रेज अधिकारियों को वहाँ से ले जाकर मिलवाते थे। उन्होने स्वामी जी के कई प्रवचन अपनी कोठी पर करवाये। बम्बई निवासियों के आमत्रंण पर स्वामी जी पधारे। "पूना के जज महोदय गोविन्द रानाडे के अनुरोध पर स्वामी जी पूना गये वहां उनके प्रबन्ध से बुधवार पेठ में भिड़े के बाड़े में 4 जुलाई सन् 1875 के दिन रात्रि के समय से एक व्याख्यान माला का आयोजन किया गया। उन्होने 15 व्याख्यान दिये जो मराठी, अंग्रेजी और हिन्दी में प्रकाशित हुये। "रानाडे ने पुष्पाहार पहना कर हाथी पर स्वामी जी का जुलूस निकलवाया।

ग्रन्थों की रचना

विद्वानों तथा मित्रो के आग्रह पर खण्डन शास्त्रार्थ और प्रवचन के साथ साथ स्वामी जी ने अपने विचारों को लिखित रूप देना प्रारम्भ किया। काशी से ही सन् 1874 से स्वामी जी ने सत्यार्थ प्रकाश की रचना प्रारम्भ कर दी। राजा जयकृष्ण दास ने उसके प्रकाशन का दायित्व अपने ऊपर ले लिया था। उन्होंने वेद भाष्य का भी निश्चय किया। वे काशी से बम्बई गये। "वेदान्त ध्वान्त निवारण" नववेदान्तवाद के खण्डन के लिये लिखा गया। इसके पश्चात् रचनाओं की श्रंखला चली।

आर्य समाज की स्थापना

स्वामी जी कलकत्ता में ब्रह्मसमाज की गतिविधि देख आये थे। उन्होने भक्तों तथा श्रद्धालुओं के बीच आर्य समाज की स्थापना का विचार रखा जो सहर्ष स्वीकृत हुआ। जनवरी सन् 1875 में उन्होने आर्य

समाज की स्थापना की। उसी समय मल्हार राव गायकवाड़ को अंग्रजों ने बड़ौदा की गद्दी से इसलिए पदच्युत कर दिया था क्योंकि उन पर ब्रिटिश रेजिडेन्स को विष देने का आरोप था। इसी विषय को लेकर एक आशुकवि विद्वान ने आर्य समज में श्लोक पाठ कर दिया। फलतः बड़ौदा राज्य से सम्बद्ध उन सब कर्मचारियों को धमकाया गया और आर्य समाज लुप्त हो गया। आर्य समाज और राष्ट्र प्रेम एक दूसरे से आबद्ध रहे। आर्य समाज की विधिवत् स्थाना 10 अप्रैल 1875 को बम्बई में हुई। प्रारम्भ में आर्य समाज के 28 नियम थे जो बाद में परिवर्तित किये गये। धीरे–धीरे उत्तरी भारत में आर्य समाजों की स्थापना का क्रम प्रारम्भ हो गया। उत्तर प्रदेश, पंजाब और राजस्थान की यात्राओं में स्वामी जी आर्य समाजों की स्थापना करते गये। पंजाब सबसे अधिक आर्य समज के कार्य में सक्रिय रहा। आर्य समाज ने वैदिक धर्म के प्रचार, सुधार कार्य और शिक्षा क्षेत्र के विस्तार, विशेषतः नारियों में प्रमुख भूमिका निभाई है।

"सन् 1875 में ही कर्नल अल्काट ने अपनी थियोसाफिकल सोसाइटी की स्थापना अमेरिका में की थी। वे स्वामी दयानन्द को आध्यात्मिक गुरू के रूप में मानते थे। मई 1875 में कर्नल अल्काट और मैडम ब्लेवेट्रस्की के अनुरोध पर स्वामी जी ने सोसाइटी को भारतीय आर्य समाज की एक शाखा बनाया। प्रारम्भ में आर्य समाज और थियोसोफिकल सोसाइटी का पारस्परिक सौहार्द बना रहा लेकिन विचार विभेद के कारण बाद में दोनों का का मार्ग अलग हो गया। अन्ततः मार्च 1882 में दोनों में सम्बन्ध विच्छेद हो गया।[1]

1. हरविलास शारदा–'लाइफ आफ दयानन्द सरस्वती', पृष्ठ–345

सर्वधर्म समन्वय सम्मेलन का पवित्र संकल्प

स्वामी दयानन्द सरस्वती सभी सम्प्रदायों तथा धर्मों के सर्वमान्य विचारों के आधार पर एक धर्म की स्थापना भारत की एकता के लिये करना चाहते थे और ऐसा होना अनिवार्य मानते थे। एक जनवरी सन् 1877 को महारानी विक्टोरिया को भारत साम्राज्ञी घोषित करने हेतु दिल्ली दरबार की आयोजना थी। स्वामी जी ने यह बहुत अच्छा संयोग समझा जब राजा–महाराजाओं से अपने उद्देश्य में सहायता ले सकते थे और राजे–महाराजे चाटुकारिताा में व्यस्त होने के कारण इतना समय नही निकाल पाये। यद्यपि कि महाराज डुमराव, महाराज इन्दौर और तुकोजी राव होल्कर स्वमी जी से मिलने अवश्य आये। महाराजाओं का सम्मेलन तो देश सुधारार्थ न हो सका लेकिन मानवता की व्यथा से पीड़ित महामना स्वामी जी बाबू केशवचन्द्र सेन, सर सैयद अहमद खां, बाबू कन्हैया लाल अलकधारी, मुंशीइन्द्रामणि, बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि और बाबू नवीन चन्द्र जैसे धार्मिक विद्वानों को एकत्र करने में सफल हुये। उन लोगों ने विचार–विमर्श किया लेकिन एक निश्चित उद्देश्य पूर्ण निष्कर्ष की प्राप्ति न हो सकी।

19 तथा 20 मार्च 1877 को फिर एक बार चाँद पुर, जिला शाहजहाँपुर, उत्तर प्रदेश के मेले में ईसाई, मुसलमान और हिन्दू धर्मावलम्बियों के मान्य विद्वानों को सर्वसम्मत सत्यों की खोज के लिये एकत्र किया गया। इस सम्मेलन में महर्षि दयाननद सरस्वती, डेवरण्ड टी०जी० स्काट, देवबन्द के माहम्मद कासिम, सैयद अब्दुल मंसूर और अरबी फारसी के विशेषज्ञ मुंशी इन्द्रामणि सम्मलित हुये। इस सम्मेलन का विस्तृत विवरण सत्य धर्मी विचार के नाम से सन् 1880 में प्रकाशित भी हुआ। योग्य विद्वानों ने निश्चित विषयों पर भाषण दिया लेकिन कोई

सर्वसम्मत निर्णय न हो सका, "एक सुपरिणाम अवश्य मिला कि असहिष्णुता दूर हुई और प्रेम पूर्वक एक दूसरे के कठोर तर्क प्रहार को सहने की भावना पैदा हुई। अपने–अपने धर्म की तर्क संगत व्याख्या की जाने लगी। इस तरह स्वामी जी ने ऐसे सम्मेलनों के माध्यम से सभी धर्मों को समीप लाने का स्तुत्य प्रयास किया, जिसकी आज की स्थिति तक बेहद जरूरत है।"[1]

परोपकारिणी सभा की स्थापना

स्वामी जी ने काशी में रहते हुये वेद भाष्य आदि ग्रन्थों को लाजरस प्रेम में छपवाने का और बाद में वैदिक यन्त्रालय में छपवाने का प्रबन्ध किया। उनकी अपनी अनेक पुस्तकें निकलने लगी क्योंकि मन्त्रालय भी हो गया तथा हितैषियों से प्राप्त पर्याप्त सम्पत्ति भी थी। स्वामी जी ने उदयपुर नरेश महाराजा सज्जन सिंह के सभापतित्व में परोपकारिणी सभा की स्थापना करके अपने अन्तिम इच्छा पत्र की रजिस्ट्री उसी के नाम पर कर दी। परोपकार वैदिक साहित्य का प्रकाशन और वैदिक धर्म का देश–विदेश में प्रचार उसका लक्ष्य था।

यह सभा वैदिक साहित्य गिरनार प्रकाशित करती रही है।

भारत के नरेशों की शिक्षा पर विचार

'यथा राजा तथा प्रजा' स्वामी जी की धारणा रही। गुजरात, पंजाब, राजस्थान और उत्तर प्रदेश में अपना प्रचार कार्य करते हुये राज्याधिकारियों को जन कल्याण के लिये वे उपदश देते थे जिसमें अनेक मुसलमान तथा अंग्रेज अधिकारी भी थे और उन्हे अपना आचरण

1. हर विलास शारदा–'लाइफ ऑफ दयानन्द सरस्वती' पृष्ठ–346

उत्तम बनाकर रखने का निर्देश देते थे। उस समय के नरेशों को सन्मार्ग पर लाने हेतु उनका विशेष प्रयास रहता था। इन्दौर नरेश और बड़ौदा नरेश स्वामी जी के दर्शन को उत्सुक रहते थे। उनकी राजस्थान यात्रा में उदयपुर के नरेश महाराणा सज्जन सिंह उनके शिष्य बन गये। वे प्रतिदिन स्वमी जी से शिक्षा ग्रहण करने लगे। अपने 4 मार्च 1883 के पत्र में स्वामी जी लिखते है, "महाराज प्रतिदिन मेरे पास आते थे, घण्टो ठहरते थे। वे मुझसे षड्दर्शनों के प्रमुख अंशों, राजशासन सम्बन्धी मनुस्मृति के तीसरे अध्याय, विदुर नीति के महत्वपूर्ण श्लोकों और व्याकरण आदि को पढ़ते थे।"[1]

स्वामी जी की प्रेरणा से महाराणा ने अपने सब कार्यालयों में नागरी वर्णमाला का उपयोग प्रारम्भ कर दिया। स्वामी जी के परम् प्रिय शिष्य शाहपुर के नरेश राजा नाहर सिंह ने दो मास तक स्वामी जी को बड़े आदर से अपने यहाँ ठहराया और मनुस्मृति, योगशस्त्र, वैशेषिक आदि प्रचीन शास्त्रों का अध्ययन किया।

स्वामी जी का महापरायण

28 मई 1883 को स्वामी जी जोधपुर पहुँचे। वे रियासत के प्रधान मन्त्री मियां फैजल्ला खां के बंगले पर ठहरे। वे महाराज जसवंत सिंह के प्रासाद में प्रतिदिन उन्हें उपदेश देने जाते थे। महाराजा प्रताप सिंह को लिखे गये पत्रों से स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी जी उन नरेशों के असंयम से गिरते स्वास्थ्य को देखकर चिन्तित होते थे और उन्हे दीर्घायु होने के लिये संयम का मार्ग निर्दिष्ट करते थे।

1. आत्मचरित्र–स्वामी दयानन्द, पृष्ठ–116

एक दिन दयानन्द जी महाराज जसवंत सिंह के आमंत्रण पर उन्हे दर्शन देने राज प्रासाद में पधारे। उस समय महाराज की प्रेमिका नन्हीं जान वेश्या आयी थी। स्वामी जी को आते देख उन्होने तुरन्त उस वेश्या को पालकी में बिठा कर विदा कर दिया। स्वमी जी ने यह देख लिया वे अपने को रोक न सके और बोले, "राजन सिंह के समान राजा गली—गली में भटकने वाली कुतिया सदृश वेश्या के पीछे नहीं भटकते।"[1] यह वारांगना प्रतिक्रिया स्वरूप स्वमी जी से बदला लेने का उपाय सोचने लगी। प्रधानमंन्त्री फैजुल्ला खां स्वामी जी के इस्लाम धर्म के खण्डन से से पहले ही जल—भुन रहा था। यह घटना स्वामी जी की जानलेवा बनी। 29 सितम्बर 1883 को नित्य नियम के अनुसार अपने सेवक जगन्नाथ से गरम दूध मंगवा कर पी गये। थोड़ी देर के बाद उनके पेट में बड़े जोर का दर्द उठा और जी मिचलाने लगा। वे जान गये कि जगन्नाथ ने विरोधियों के षडयन्त्र में शामिल होकर दूध में विष दे दिया है। विष को वे किसी भी यौगिक क्रिया से न लिकाल सके और समझ गये कि मृत्यु निश्चित है। जगन्नाथ स्वामी जी का विश्वास पात्र सेवक था। उसे उपने जघन्य कार्य हेतु आत्मग्लानि हुई और पश्चाताप की ज्वाला में उनके चरणों में लोटने लगा। स्वामी जी ने रूपयों की थैली पकड़ाकर इसे रातों—रात राज्य की सीमा से बाहर हो जाने के लिये कहा। उसे नेपाल जाने का निर्देश दिया ताकि उसके प्राणों की रक्षा हो सके। स्वामी जी ने जीवन पर्यन्त उसके विषय में नहीं एक शब्द भी नहीं निकाला। यह उनकी क्षमाशीलता की पराकाष्ठा है।

स्वामी जी की चिकित्सा में असफल होने के कारण प्रेमी भक्त पहले आबू और फिर अजमेर ले गये। योग्य डाक्टरों की औषधियों का

---

1. आत्मचरित्र—स्वामी दयानन्द, पृष्ठ—121

कोई प्रभाव नहीं पड़ा। 30 अक्टूबर 1883 मो स्वामी जी ने साढ़े पाँच बजे चारों ओर दरवाजों, खिड़कियों और झरोखे खुलवा दिया तथा भक्त मण्डली को अपने पीछे खड़े होने का निर्देश दिया। वेदपाठ और प्रार्थना करके गायत्री का जाप करते स्वामी जी सहसा चुप हो गये। वे समाधि की अवस्था में चले गये। थोड़ी देर बाद आंखे खुली और बोले, "हे दयामय। हे सर्वशक्तिमान ईश्वर। तेरी यही इच्छा है, सचमुच तेरी यही इच्छा है। तेरी इच्छा पूर्ण हो! अहा! तूने अच्छी लीला की।"[1] और करवट लेकर प्रणव की ध्वनि के साथ एक बार ही स्वास बाहर निकाल दिया। दीपावली के दिन ही यह महान दीपक हमेशा के लिए बुझ गया। स्वामी जी के आकस्मिक निधन ने सारे भारत के हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई को शोक निमग्न कर दिया। सर सैयद खाँ ने कहा, "स्वामी दयानन्द महानन्द संस्कृत और वेदज्ञाता थे। वे विद्वान ही नहीं किन्तु श्रेष्ठ पुरूष थे। वे परमहंस के गुणों से विभूषित थे। उन्होने केवल एक ज्योतिर्मय निराकार परमेश्वर की आराधना करने की शिक्षा दी। हमारा स्वामी जी से घनिष्ठ सम्बन्ध था और हम उनका आदर करते थे। वे ऐसे पुरूष थे जिनके समान इस समय भारत में कोई नहीं है। उनकी मृत्यु से देश को भारी क्षति हुई है।"[2]

मैडम ब्लेवट्स्की ने अपनी श्रद्धांजलि दी, "यह निश्चित है कि शंकराचार्य के पश्चात दयानन्द से अधिक संस्कृत, गम्भा, आध्यात्म तत्ववेत्ता, आश्चर्यजनक वक्ता और बुराई पर निर्भीक प्रहार करने वाला भारत को प्राप्त नहीं हुआ।"[3]

---

1. यदुवंश सहाय–महर्षि दयानन्द, पृष्ठ–67
2 यदुवंश सहाय–महर्षि दयानन्द, पृष्ठ–343
3. मैडम त्लेवट्स्की–स्वामी दयानन्द सरस्वती, पृष्ठ–164

मैक्समूलर के उद्‌गार हैं, "स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दू धर्म के सुधार का बड़ा कार्य किया और जहाँ समाज सुधार का सम्बन्ध है वे बड़े उदार हृदय थे। वे अपने विचारों को वेदों पर आधारित और उन्हे ऋषियों के ज्ञान पर अवलम्बित मानते थे। उन्होने वेदों पर बड़े–बड़े भाष्य किये जिससे मालूम होता है कि वे पूर्ण विज्ञ थे। उनका स्वाध्याय बड़ा व्यापक था।"[1]

1. हरविलास शारदा–लाइफ आफ दयानन्द सरस्वती, पृष्ठ–164

अध्याय-2

स्वामी दयानन्द सरस्वती का शैक्षिक-दर्शन

अध्याय–2

स्वामी दयानन्द सरस्वती का शैक्षिक-दर्शन

वेदों में सन्निहित चिरंतन तथा सनातन ज्ञान एवं सत्य को नये आलोक तथा ताजे परिज्ञान को स्वामी जी ने लौकिक धरातल पर बड़ी पटुता से अवतरित किया, वेदों पर टिप्पणी करते हुए मैक्समूलर ने अभिव्यंजित किया है–

"If I were to look over the whole world to find out the country most richly endowed with all wealth power and beauty that nature bestows-in some parts a vary paradise on earth-I would point to India if I were asked under what sky the human mind has most fully developed some of the choicest gifts has most deeply pondered of the greatest problems of life and has found solutions of some of them which will deserve. The attention even of those who have studies plato and kant-I should point to India and of I where to ask myself from what literature we in Europe. We who have been nurtured almost exclusively on the thoughts of Greeks and Romans and of one Semiterance the news may draw that corrective our inner life more perfect more Comprehensive. More universal. Infact more human. a life transfigured and eternal life again I should point to India."[1]

महान फ्रांसीसी दार्शनिक रामेन रेलैण्ड ने वेदों तथा उपनिषदों के दार्शनिक विचारों के गहन अध्ययन के पश्चात कहा–

1. मैक्समूलर–इण्डिया : ह्वाट आई कैन टीच अस, पृष्ठ–27

If there is on place on the face of the earth where all dreams of living men have found a have from the very earliest days when men began to dream of existence it is India."[1]

जर्मन दार्शनिक श्लेजे न भी प्राच्य दर्शन पर अपनी अभिव्यक्ति किया है–

"The loftiest European philosophy compared with oriental realism is like a feeble promethean. spark in the full flood of a heavenly galaxy. Not only this, but their marvelous intellectual genious formed an avenues in France poetry, Science and medicine."[2]

अतीत के कोख से ही भविष्य का निर्माण होता है। भावी भारत के शैक्षिक भविष्य के निर्माण हेतु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने प्राचीन भरतीय सभ्यता और संस्कृति के मूल स्त्रोत वेदों को ही अपने दर्शन का आधार बनाया तथा विचार मंथन के माध्यम से वेदों का अभिप्राय आधुनिक परिवेश में व्याप्त हो सके और वास्तविक भारत की एक सुन्दर आकृति बन सके।

स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा वेदों के विशुद्ध स्वरुप की पुन: स्थापना तथा उनके शैक्षिक विचारों की पृष्ठ भूमि

ऐसे घोर अज्ञानन्धकार के समय जब कि एक और अपने को सनातनधर्मी कहलाने वाले लोग यह कह रहे थे कि वेद तो कलयुग में लिप्त हो चुके है, कपोलकल्पि, अनर्गल एवं सृष्टिनियम विरुद्ध ग्रन्थों से भरे हुये पुराण वेदों का स्थान प्राप्त कर रहे थे, सायण, उवट और

1. रोमन रोलेन्ड–'वर्ल्ड पर्सवेसिव ऑन स्वामी दयानन्द' पृष्ठ–349
2. श्लेजे–'वेस्टर्न फिलॉसफी,' पृष्ठ 339–350

महीधर जैसे भावष्यकारों के भाष्यों ने वेद की आर्ण परम्परा और शाश्वत मर्यादा को मटियामेट कर रखा था, शंकराचर्य जैसे उद्भट विद्वान ने भी वेदान्त के भाष्य ने यह लिखा कि शुद्र को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं–

अयास्य यवेदमुपघ्रवप्तस्वपुजतुम्यां श्रोत्रपरिपूर्णम्......इति भवति च वेदाच्चारणे जिह्वाच्छिदो धारणे शरीभेद.......इति

और साथ ही ऐसे निकृष्ट कार्य को सप्रमाण सिद्ध करने के लिये गौतम धर्म सूत्र के प्रक्षिप्त वाक्य को सहारा बनाया गया तथा दूसरी ओर अनेक पाश्चात्य विद्वान वेदों को किस्से कहानियों की पुस्तक बताकर वेदों लुप्त करने का षडयन्त्र कर रहे थे, पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति के आगोस में लिप्त अनुयायी भारती भी उसी हवा में तेजी से बह रहे थे। ऐसी नाजुक स्थिति में निरन्तर अध्यावसाय से वेद वेदांगो से सुशिक्षित, परम्निष्णात, महान तथा अद्वितीय वेदज्ञ स्वामी दयानन्द ने यह घोषण की कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है तथा समस्त सत्य विधाओं की पुस्तक है ज़िसकी शिक्षा पर चलने में मानव का कल्याण है। स्वामी जी ने वेद की परम्परा के सम्बन्ध में अपना कोई नवीन मत स्थापित नहीं किया, किन्तु ब्रह्मा से लेकर जैमिनी र्प्यनत जो वेदार्थ की अर्ण परम्परा चली आई थी उसका पुनुरुत्थान तथा निश्चयीकरण किया ऊहशक्ति सम्पन्न दयानन्द ने वेद के ज्ञान को शिव पटल पर रखा और प्राचीन आर्ण परम्परा को स्थायित्व करते हुये वेदार्थ के पथ को प्रदर्शित किया।

इसी संदर्भ में प्रसिद्ध योगी श्री अरविन्द जी लिखते हैं–

"Amidst the chaos and abseurity of old ingnorance and age long misunderstanding he waw the eye of direct vision that pierced the truth and fastened on that which was essential. He has found the keys of the

doors that time had closed and sent as under the seals of the imprisoned fountain."[1]

डा० के०सी० वरदाचारी अध्यक्ष दर्शन विभाग, श्री वैक्टेश्वर काले ति–रुपति ने लिखा है कि–

"We shall see that swami dayanand had laid the world under deepest debt of obligation for giving to mankind. The treasure that was lost or buried under the depris of confusing ideologies and interpretations."[2]

स्वामी दयानन्द ने वैदिक धर्म के विशुद्ध स्वरुप की पुनः स्थापना के साथ–साथ प्राचीन आर्य शिक्षा पद्धति को भी पुनः स्थायित्व करने का सफल तथा सक्रिय प्रयास किया।

शिक्षा के क्षेत्र में स्वामी जी का यही प्रयास था कि ऐसी शिक्षण संस्थओं की जाये जिनमें आर्य ग्रन्थों के अध्ययन–अध्यापन की प्रमुखता हो, जिनका वातावरण वैदिक धर्म के अनुरुप हो तथा इन शिक्षालयों में गुरु अपने शिष्यों को उसी ढंग से शिक्षा दे जैसे कि भारत के अतीत में आचार्य कुलों तथा गुरु कुलों में शिक्षा दी जाती थी। इसी लिये स्वमी जी ने अनेक पाठशालाओं और विद्यालयों की स्थापना की। इसी क्रम में आर्य समाज द्वारा जो बहुत सी शिक्षण संस्थये गत एक सदी से स्थपित की गयी है, उन सबका भी यही मन्तव्य रहा कि भारत की प्राचीन आर्य शिक्षा पद्धति का कायाकल्प नये क्लेवर में किया जाये और शिक्षणालयों में वेद–वेदांग की शिक्षा को प्रमुख स्थान दिया जाये। स्वामी जी के

1. अरविन्द–'दयानन्द एण्ड वेद,' पृष्ठ–147
2. डॉ० के०सी० वरदाधरी–'आइडिया ऑफ गॉड,' पृष्ठ–461

सिद्धान्तो पर आधारित वर्तमान में भी आर्य समाज ने शिक्षा के क्षेत्र में अद्वितीय योगदान किया है।

वर्तमान समय में आर्य समाज द्वारा जिन शिक्षण संस्थाओं का संचालन किया जा रहा है, उनकी संख्या डेढ़ हजार से भी अधिक है। ये शिक्षणलय केवल भारत में ही नही, अपितु मॉरिशस, केन्या, फिजी, सुरीनाम, दक्षिण अफ्रिका आदि विदशी राज्यों में भी विद्यमान है.......... "इनकी स्थापना कुछ निश्चित आदर्शो और उद्देश्यों को सम्मुख रख कर की गयी है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने बालक और बालिकाओं की शिक्षा तथा पठन–पाठन विधि के सम्बन्ध में जिन मनतव्यों को प्रतिपादन किया था; आर्य समाज का प्रयत्न रहा है कि उन्हे क्रियान्वित किये जाये और अपनी शिक्षण–संस्थाओं का संचालन उन्ही के अनुसार किया जाये। सामयिक आवश्यकताओं और परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुये उन मनतवयों को चाहे अविकल रुप से क्रियान्वित न किया जा सका हो, पर ये स्तीकार करना होगा कि आर्य समाज द्वारा संचालित प्रायः सभी शिक्षण–संस्थओं का वातावरण वैदिक धर्म तथा आर्य संस्कृति के अनुरुप है और उनमें यह प्रयत्न किया जाता है कि बालक–बालिकायें सदाचारमय जीवन और नैतिक आदर्शों को अपने सम्मुख रखे और वैदिक धर्म के मूल तत्वों से भी परिचित हो जाये।[1]

इस प्रकार स्वामी दयानन्द सरस्वती के शैक्षिक विचार वेद तथा वेदांगों पर आधरित होकर एक नये आधुनिक परिवेश में अवतरित हुये है। अतः स्वामी दयानन्द के शैक्षिक विचार को समझने के पूर्व उनका दार्शनिक विचारों का अध्ययन करना समीचीन मालूम पड़ता है।

---

1. सत्यकेतु विद्यालंकार–आर्य समाज का इतिहास, तृतीय भाग, पृष्ठ–17

स्वामी दयानन्द सरस्वती का दर्शन

स्वामी दयानन्द सरस्वती का प्रधान कार्य वैदिक धर्म के विशुद्ध रुप के पुनुरुत्थान के सम्बन्ध में है। उनका मन्तव्य था कि सत्य–सनातन वैदिक धर्म के अनुसार ईश्वर एक है जो विश्व की सर्वोच्च सत्ता है। उनका कोई आकार नहीं होता। अतः उसकी मूर्ति नहीं बनाई जा सकती। ईश्वर कभी अवतार नहीं लेता। वह सर्वशक्तिमान है। अतः किसी कार्य के सम्पादन के लिये उसे मानव या किसी अन्य जीव का शरीर धारण करने की आवश्यकता नहीं होती। आत्मा ईश्वर से भिन्न हैं तीन अनादि सत्तायें है, ईश्वर या परमात्मा, जीव या आत्मा और प्रकृति। वे त्रेतावाद के समर्थक थे जो निम्नलिखित उद्धरणों से स्पष्ट है–

दा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पल स्वाद्धच्वनश्नन्यों अभिजात्तर्शीति।।[1]

"प्रकृति जीव और परमात्मा तीनों अब अर्थात जिनका जनम कभी नहीं होता और न कभी ये जन्म लेते अर्थात ये तीन सब जगत के कारण है। इनका कारण कोई नहीं। इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फंसतों है और न उसमें परमात्मा फंसता और नही उसका भोग करता है।"[2]

प्रश्नः अनादि किसको कहते है और कितने पदार्थ अनादि हैं?

उत्तरः "ईश्वर जीव और जगत का कारण–ये तीन अनादि है।"

भारतीय दर्शन में द्वैतवाद और अद्वैतवाद ये दो सिद्धान्त बहुचर्चित रहे है। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, बल्लभाचार्य, निम्बाकाचार्य, क्रमशः

1. ऋग्वेद मण्डल 1 सू० 169 मंत्र 201
2. सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास 8, पृष्ठ–208

केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत के विभिन्न रुपों में अद्वैतवाद के आचार्य परिगणित किये गये है। स्वामी दयानन्द द्वैतवाद के प्रचारक मध्वाचार्य के ही समीप है, परन्तु उनके दार्शनक मन्तव्यों, में ती संख्या पर जोर होने के कारण उनके सिद्धान्त को पृथक करने के लिये त्रेतावाद नाम सार्थक है।

एकेश्वरवाद

स्वामी जी का मन्तव्य है कि विश्व की सर्वाच्च शक्ति केवल एक ईश्वर है जिसका सर्वश्रेष्ठ नाम ओड्म है। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, वायु आदि जो बहुत से नाम वेदों में आते है, वे एक ही इश्वर के विभिन्न नाम है, "स्वयं ऋग्वेद में यह कहा गया है कि इन्द्र, मित्र, वरुण आदि एक ही सर्वोच्च सत्ता के सूचक है, जिसे सिद्धि प्राप्त श्रेष्ठ विद्वान इन विविध नामों से कहते हैं।"[1] सृष्टि का कर्ता पालक संहर्ता एक ईश्वर है और विश्व की ये सर्वोपरि शक्ति के प्रकृति के विविध रुपों तथा सृष्टि के अनेक विधि तत्वों में अपने को अभिव्यक्ति करती है। इस तत्व को स्वामी जी ने यजुर्वेद भाषा में इस प्रकार प्रकट किया है, "इस संसार में जो अच्छे गुणवाले पदार्थ है वे दिव्य गुण, कर्म और स्वाभावा होने वाले से देवता कहलाते है और जो देवताओं के देवता होने से महादेव सबका धारक, रक्षक, रक्षक सबकी व्यवस्था और प्रयत्न करने वालो सर्वशक्तिमान दयालु, न्यायकारी, उत्पत्ति धर्म से रहित है उस सबके अधिष्ठता परमात्मा को सब मनुष्य जाने।"

"हम वेदान्ती छः पदार्थो अर्थात् एक जीव, दूसरा ईश्वर, तीसरा ब्रह्मा, चौथा जीव और ईश्वर का विशेष भेद, पाचवां अविद्या अज्ञान और

1. ऋग्वेद, मण्डल 1, सूक्त 164, मन्त्र 46

छठा अविद्या और चेतन का योग इनको अनादि मानते है। परन्तु एक ब्रह्म अनादि अन्नन्त और अन्य पांच की आदि विदित नहीं होती, इसलिये अनादि और ज्ञान होने के बाद नष्ट हो जते हैं इसलिये स्त्रात अर्थात नाश वाले कहलाते है।"[1]

"जैसे जल के सहस्त्र कूंडे धरे हो। उनमें सूर्य के सहस्त्रों प्रतिबिम्ब दीखते है। वस्तुतः सूर्य एक है। कूंण्डों के नष्ट होने से जल के चलने वे फैलने से सूर्य न नष्ट होता है, न चलता है न फैलता है। इसी प्रकार अन्तः करणों में ब्रह्म का आभास जिसको चिदाभाष कहते है, पड़ा है। जब तक अन्तः करण ज्ञान से नष्ट होता है तब जीव ब्रह्म स्वरुप है।"[2]

अद्वैतवाद का निराकरण

स्वामी दयानन्द सरस्वती शंकराचार्य, तथा योगाचार्य से भिन्न मत रखते है जो भौतिक जगत को भ्रमजाल मानते हैं। स्वामी जी की सम्मति है, "जीव ब्रह्मा की एकता जगत मिथ्या,"शंकराचार्य का निज मत था तो वह अच्छा मत नहीं और जो जैनियों के खण्डन के लिये उस मत को स्वीकार किया हो तो कुछ अच्छा है।"[3]

स्वामी जी ने शंकर के लिए अद्वैत सिद्धान्त का निराकरण करने के लिये प्रवल युक्तियों और प्रमाणों का आवलम्बन किया है। इस लिये ही श्री अरविन्द ने स्वामी दयानन्द की भाष्य शैली वैज्ञानिक एवं सत्य का उद्घाटन करने वाली शैली माना है। उनके भाष्य शैली के विषय में श्री योगी अरविन्द के उद्‌गार "ऋषि दयानन्द की इस धारण में कि वेद

1. सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास 7, पृष्ठ–195
2. सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास 11, पृष्ठ–198
3. सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास 11, पृष्ठ–294

वेद में धर्म और विज्ञान दोनों सत्य पाये जाते हैं, कोई कल्पित बात नही। मै इसके साथ अपनी धारण जोड़ना चाहता हूँ कि वेदों में एक दूसरे विज्ञान की सच्चाईया भी विद्यमान है—दयानन्द का प्रवल प्रमाणें के आधार पर विश्वास िा कि वेद में परमेश्वर पकृतिक नियमक, आत्मा और प्रकृति........पुराने अज्ञान और पुराने युग की मिथ्या ज्ञान की अव्यवस्था और अस्पष्टता के बीच में यह उसकी ऋषिदृष्टि थी, जिसको बन्द करके रखा था। उसकी चाभियों को उसी ने पा लिया और बन्द पड़े स्त्रो की मुहरों को उसी ने तोड़कर फेक दिया।"[1]

"कार्य कारण श्रंखला की मीमांसा की अन्तिम परिणति एक अद्वितीय ब्रह्मा में ही यह तभी सम्भव है जबकि कारण का एकत्व अपरिहार्य रुप में स्वीकार कर लिया जाये। जगत के कारण तीन है, एक निमित्त डूसरा अपादान तीसरा साधारण..........इन तीन कारणों के बिना कोई भी वस्तु नही बन सकती है और न बिगड़ सकती है।"[2]

मूर्ति पूजा तथा अवतार वाद का विरोध

विश्व की सर्वोच्च शक्ति परमेश्वर की पूजा के लिये स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्तुति, प्रार्थना और उपासना का विधान किया है। मूर्तिपूजा के वे पबल विरोधी थे। "जब ईश्वर निराकार, सर्वव्यापक है तब उसकी मूर्ति ही नही बन सकती और जो मूर्ति के दर्शन मात्र से परमेश्वर का स्मरण होगे तो परमेश्वर के बनाये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति आदि अनेक पदार्थ जिनमें ईश्वर ने अद्‌भुत रचना की है। क्या ऐसी रचनायुक्त पृथ्वी, पहाड़ आदि परमेश्वर रचित महामूर्तियाँ कि

---

1 . श्री अरविन्द : बंकिम, तिलक, दयानन्द तीसरा संस्करण, पृष्ठ–57
2 सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास 8, पृष्ठ–210

जिन पहाड़ आदि से मनुष्य कृत मूर्तियाँ बनती हैं, उनको देखकर परमेश्वर का स्मरण नहीं हो सकती।"[1]

वेदशास्त्रों में भी स्पष्ट रुप से मुर्तिपूजा का विरोध किया गया है। "न तस्य प्रतिमा अस्ति।"[2] यजुर्वेद के ही एक अन्य मन्त्र 40/9 का अर्थ का आर्थ करते हुये स्वामी जी ने लिखा है कि–"जो पृथ्वी आदि भूत पाषाण और वृक्षादि अवयव और मनुष्यादि के के शरीर की अपासना ब्रह्मा के स्थान में करते है वे अन्धकार से भी अधिक अन्धकार अर्थत् महामूर्त चिरकाल और दुःख रुप नरक में गिरकर महाक्लेश मानते है।"[3]

स्वामी जी का मत है कि मूर्तिपूजा का चलन जैनियों से हुआ था। बाद में फिर वैदिक धर्म के अनुयायियों में वैदिक युग में आर्य विश्व सर्वोच्च शक्ति के रु‍ में एक ईश्वर में विश्वास करते थे और उसकी आराधना के लिये स्तुति प्रार्थना तथा उपासना का आश्रय लेते थे।

स्वामी जी ने मूर्तिपूजा का विरोध वेद विरुद्ध होने तथा उसके परिणाम जन्य विकृतियों को दृष्टि में रखकर किया। "दुष्ट पुजारियों को धन देते है। वे उस धन को वेश्या परस्त्रीगमन, मद्य, मांसाहार, लड़ाई, में बखेड़े व्यय करते है। जिससे दाता सुख मूल नष्ट होकर दुःख होता है।"[4]

स्वामी जी के अनुसार पांच मूर्तिमान देव है। "माता, पिता, आचार्च, अतिथि और स्त्री के लिए पति और पुरुष के लिये पत्नी इनकी सेवा कर जो पाषाण मूर्ति पूजते है, वे अतीत नरक गामी है।"[5]

---

1. सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास 8, पृष्ठ–296
2. यजुर्वेद 32/31
3 सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास 11, पृष्ठ–300
4 सत्यार्थ प्रकाश समुल्ला 11. पृष्ठ– 304
5. सत्यार्थ प्रकाश सुल्लास 11, पृष्ठ– 306

स्वामी दयानन्द सरस्वती अवतारवाद का भी विरोध करते है। अवतारवाद वेद विरुद्ध है। स्वामी जी का कथन है कि यदि ईश्वर अवतार ग्रहण करेगा तो उसे माता के गर्भ में रहकर समय पर जन्म लेना होगा। ऐसा होन पर एक प्रश्न उत्नन होता है कि सर्व व्यापक व अनन्त ईश्वर एक स्त्री के गर्भ से कैसे आ सकता हे। "जैसे कोई अनन्त आकाश को कहे कि गर्भ में आया था मुट्ठी में धर लिया, ऐसा कहना कभी सच नहीं हो सकता क्योंकि आकाश सबसे अनन्त और सबसे व्यापक है। इससे न आकाश बाहर आता है और न भीतर जाता है वैसे ही अनन्त सर्वव्यापक परमात्मा के होने से अका आना–जाना कभी सिद्ध नहीं हो सकता। क्या परमेश्वर गर्भ में व्यापक नहीं था जो कहीं से आय और बाहर नहीं था जो भीतर से निकला।"[1]

स्वामी जी को यह भी मान्य नहीं था कि मनुष्य को कोई प्रतिनिधि धर्म का उपदेश देने के प्रयोजन से परमेश्वर अपना कोई प्रतिनिधि भेजता है जैसे इस्लाम में मुहम्मद और ईसाइयत में इसा। स्वामी जी के मन्तव्य में सभी मनुष्य ईश्वर के पुत्र हैं।

षड्दर्शनों में समन्वय

वेदों को स्वतः प्रमाण मानने वाले आस्तिक दर्शन छः है, साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा और वेदांत चिर काल में माना जा रहा है। इन दर्शनों के सिद्धांतों में परस्पर विरोध है। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखते हुये "प्रधान मल्ल निर्बहणन्याय, से साख्य दर्शन के सिद्धांतो का खण्डन किया है। साख्य के विषय में समझा जाता है कि सृष्टिकर्ता के रुप में उसे ईश्वर की सत्ता स्वीकार्य नहीं है। इसके

1. गंगा प्रसाद गर्ग–'वर्ल्ड पर्सपेक्टव ऑन स्वामी दयानन्द', पृष्ठ–303

विपरीत न्याय और वेशेषिक दर्शन सृष्टि का निमित्त कारण ईश्वर को मानते है और वेदांत के अनुसार ब्रह्म सृष्टि का निमित, एवं उपादान दोनों प्रकार का कारण है। सांख्य दर्शन द्वारा सत्यकार्यवाद का प्रतिपादन किया गया है और न्याय एवं वैशेषिक दर्शनों द्वारा असत्यकार्य वाद का। सत्कार्यवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई कारण होता है। घट कार्य है और मिट्टी उसका कारण। यदि मिट्टी न हो तो, घट नही बन सकता। इसी प्रकार मिट्टी का भी कोई कारण होता है। कार्य के कारण का इसी ढंग से पता करते हुए ऐसे तत्व तक पहुँच जाते है, जो सबका आदि या मूल कारण है। पर स्वयं कार्य नही है। साख्य दर्शन में इसी आदि तत्व को प्रकृति कहा गया है। न्याय और वैशेषिक दर्शन असत्यकार्यवाद के प्रतिपादिक माने जाते है। उनके मत में कार्य पहले ही कारण में विद्यमान नही होता, अपितु कारण रुप वस्तु के विनष्ट होने पर ही कार्य रुप पदार्थ की उत्पत्ति होती है। बीज से अंकुर की उत्पत्ति होती है। बीज कारण है और अंकुर कार्य, अंकुर की उत्पत्ति बीज की सत्ता नष्ट होने पर ही होगी। षड़दर्शनों में इसी प्रकार के विपरीत मत एक दूसरे के विरोधी माने जाते रहे है। इस विषय का समर्थन शंकराचार्य तथा रामानुजाचार्य आदि दार्शनिकों ने भी किया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती का दृष्टि कोण सर्वथा भिन्न है। वे षड़दर्शनों में समन्वयदर्शी है। षड़दर्शनों में विरोध नही है, अपने इस मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए स्वामी जी ने लिखा है कि बिरोध उसको कहते है कि एक कार्य में एक ही बिषय पर विरुद्धावाद होवे। छः शास्त्रों में अविरोध देखों इस प्रकार है। मीमांसा में ऐसा कोई भी कार्य जगत में नही होता कि जिसके बनाने में कर्मचेष्टा न की जाये। वैशेषिक में समय न लगे बिना को ही नहीं, न्याय में 'उपादान' कारण न होने से कुछ भी

नही बन सकता, योग में "विद्या, ज्ञान विचार न किया जायें तो नही बन सकता, साख्य में तत्वों का मेल न होने से नही बन सकता, और वेदांत में बनाने वाला न बनावे, तो कोई पदार्थ उत्पन्न न हो सकें। इसलिये सृष्टि छः कारणों से बनती है। उन छः कारणों की व्याख्या एक–एक करके एक–एक शास्त्र में है। इसलिए उनमें कुछ भी विरोध नही"

स्वामी जी के मतानुसार छः आस्तिक दर्शन वेदों की प्रमाणकर्ता स्वीकार करतें है, उन्हें स्वतः प्रमाण मानते है। अतः यह सम्भव नही है कि वे किसी ऐसे मन्तव्य का प्रतिपादन करे; जो वेद विरुद्ध हो। छः दर्शनों में जो भेद दिखाई देता है। उसका कारण यह है कि विभिन्न दर्शन शास्त्रों की प्रतिपादन शैलीं में विभिन्नता है और साथ ही उनके परिभाषिक शब्द भी पृथक–पृथक है। सांख्य ने जिस अर्थ में पुरुष शब्द का प्रयोग किया है, न्याय और वैशेषिक दर्शनों में उसी अर्थ में आत्मा शब्द प्रयुक्त है। सांख्य के पुरुष शब्द से जीवात्मा और ब्रह्म दोनो अभिप्रेत है। इसी प्रकार वैशेषिक और न्याय दर्शनों द्वारा आत्मा शब्द से परमेश्वर और जीवात्मा दोनो को सूचित किया गया है। कहाँ पुरुष अथवा ईश्वर का ग्रहण करना उचित है, और कहां जीवात्मा का, इस बात का निर्धारण प्रसंग के अनुसार किया जाना चाहिए।

स्वामी जी दयानन्द सरस्वती के मत में सांख्य दर्शन अनिश्वरवादी नही है। वह भी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है। स्वामी जी के शब्दों में "जो कोई कपिलाचार्य को अनिश्वरवादी कहता है, जानों वह अनिश्वरवादी है, कपिलाचार्य नही। "26 सांख्य दर्शन का एक सूत्र 1/92 'ईश्वरसिद्धे' है। इस प्रकार अन्य साख्य सूत्र प्रमाणाभावान्न तस्सिद्धिः 5/10 और सम्बन्धाभावान्नानुमग्नम् 5/11 है। इन सूत्रों द्वारा यह प्रतिपादित किया जाता है कि साख्य दर्शन अनिश्वरवादी है इनमें

कहा गया है कि ईश्वर की सिद्धि न प्रयत्छन प्रमाण है कि जा सकती सकती है और न अनुमान प्रमाण द्धारा। लेकिन स्वामी जी ने इस सूत्रों की व्याख्या एक भिन्न प्रकार से की है। उनके अनुसार इन सूत्रों में ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार नही किया है कि ईश्वर के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण नही दिये जा सकते। स्वामी जी के शब्दो में "पुरुष से बिलक्षण अर्थात पूर्ण होने से परमात्मा का नाम पुरुष और शरीर से शयन करने से जीव का नाम भी पुरुष है।"[1] सांख्य सूत्रों में न केवल पुरुष शब्द द्धारा ईश्वर भी अभिप्रत है अपितु स्पष्ट रुप से भी ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। इस प्रकार स्वामी जी के अनुसार सांख्य दर्शन अनिश्वरवादी न होकर ईश्वर को सृष्टिकर्ता एवं सृष्टि का निमित्त कारण मानता है।

सांख्य दर्शन सत्कार्यवाद का प्रतिपादक है और न्याय–वैशेषिक असत्य कार्यवाद का। अतः इनमें भेद है। इस मत का भी स्वामी जी ने तर्क तथा युक्ति से खण्डन किया है। वे स्वयं सत्कार्यवाद के समर्थक है ओर यह मानते है कि न्याय किया है। वे स्वयं सत्यकार्यवाद के समर्थक है ओर यह मानते है कि न्याय वैशेषिक दर्शनों में भी यही वाद प्रतिपादित है। यह सब जगत सृष्टि के पूर्व असत् के सदृश और जीवात्मा, ब्रह्म और प्रकृति में लीन होकर वर्तमान था, अभाव न था।"[2] सब पदार्थ अव्यक्त रुप में अपने कारणों में भी विद्यमान रहते है। अभाव से भाव की उत्पत्ति नही होती। सत्कार्यवाद का यहीं अभिमत है। पर न्याय दर्शन का कहना है कि अभाव या असत से ही प्रदार्थ की उत्पत्ति होती है। "अभावादभावोत्पतिनीनुपमृथ प्रादुर्भावात्"[3] इस सूत्र का अभिप्राय

1. सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास 8, पृष्ठ–208
2. सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास 7, पृष्ठ–175
3. सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास 8, पृष्ठ–177

है कि जैसें बीज का बिनाश हुये बिना अंकुर उत्पन्न नही होता और बीज को तोड़ कर देखा जाये तो वहां अंकुर का अभाव होता है, है तो इससे परिज्ञान हुआ कि अभाव से ही अंकुर रुप पदार्थ की उत्पत्ति हुई। स्वामी दयानन्द के मत में यह सूत्र पूर्वपक्ष के रुप में है, न्याय दर्शन का सिद्धांत नही है। इसी कारण इसे पूर्वपक्ष के रुप में प्रस्तुत कर स्वामी ने इसका अन्तर दिया है "जो बीज का उपमर्दन करता है, वह प्रथम ही बीज में था, जो न तो कभी उत्पन्न न होता।"[1]

स्वामी जी का अभावाद् भावोत्पतिः सूत्र का पूर्वपक्ष प्रतिपादित करना सर्वथा समुचित है। वस्तुतः सांख्य न्याय और वैशेषिक तीनों दर्शन कारण से कार्य की उत्पत्ति मानते है। इनमें भेद केवल इतना है कि न्याय वैशेषिक का यह कहना है कि उत्पन्न हुए पदार्थ का पहले अभाव था, अर्थात वह पहले उस रुप में नही था जिसमें कि उत्पन्न होने के बाद वह हो गया। दोनो दर्शन बात एक ही कहते है लेकिन कहनें के ढंग में अन्तर है। दोनो को यही स्वीकार्य है कि असत् ये सत् की या अभाव से भाव की उत्पत्ति नही हो सकती।

जो प्रकृति सम्पूर्ण सृष्टि का उपादान कारण है, उसके स्वरुप के सम्बन्ध में भी सांख्य तथा न्याय वेशेषिक में भेद प्रतीत होता है जो स्वामी दयानन्द को मान्य नही है। सांख्य के अनुसार प्रकृति में तीन गुण है, सत्य, रज तथा तम। जब प्रकृति अव्यक्त दशा में होती है तो वे तीनो गुण साम्यावस्था में रहते है। जब गुणो की सम्यावस्था भंग होने लगती है और सत्य आदि गुण सम न रहकर न्यूनाधिक होने लगते है तो प्रकृति में विकार उत्पन्न होने लगता है और अव्यक्त दशा से व्यक्त

1. न्याय सूत्र 4/1/14

दशा में आ जाती है। सृष्टि प्रकृति का ही व्यक्त रुप है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार प्रकृति का सूक्ष्मतम रुप परमाणु है। परमाणु वे होते है जिनका विभाग न किया जाये। सृष्टि के प्रत्येक तत्व के अपने अपने पृथक परमाणु होते है, जो न्यनाधिक संख्या में परस्पर मिलकर विविध पदार्थो का निर्माण करते है। उपर से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति के स्वरुप के सम्बन्ध में इन दर्शनशास्त्रों में भेंद है। पर स्वामी दयानन्द यह नही मानते है। उनके अनुसार प्रकृति के बिषय में सांख्य और वैशेषिक दर्शन की अपेक्षा गहरा या अधिक परे चला गया है। उनके शब्दो में "अनाकद नित्यस्वरुप सत्व, रजस, और तमोगुणों की एकावस्था रुप प्रकृति से उत्पन्न जो परमसूक्ष्म पृथक–पृथक तत्वावयव विद्यमान है, उन्ही का प्रामि ही जो संयोग का आरम्भ है, संयोग विशेषों से अवस्थान्तर दूसरी अवस्था का सूक्ष्म स्थूल–स्थूल बनते–बनते विचित्र रुप बनी है, इसी से यह संसर्ग होने से सृष्टि कहलाती है।"[1]

स्वामी दयानन्द का ये मन्तव्य सर्वथा युक्तिसंगत है कि कार्य कारण भाव को जिस ढंग से न्याय वैशेषिक तथा सांख्य दर्शनों ने प्रतिपादित किया है, वे परस्पर विरोधी नहीं हैं और न्याय वैशेषिक भी सांख्य के समान सत्कार्यवाद के ही प्रतिपादक है। शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म और जीव में कोई भेद नहीं है। स्वामी जी के अनुसार अद्वैतवाद न केवल वेदविरुद्ध है अपितु वेदान्त दर्शन के वास्तविक सिद्धांत के भी अनुसार नहीं है। वस्तुतः वेदान्त में भी ब्रह्म और जीवात्मा की पृथक अस्तित्व का प्रतिपादन किया गया है। स्वामी जी को यही मत स्वीकार है और उन्होंने अपने इस मत की पुष्टि ब्रह्म सूत्रों के आधार पर की है। ब्रह्मसूत्रों को उद्धत कर महर्षि ने

1. सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास 8, पृष्ठ–203

उनकी व्याख्या करते हुये कहा है "ब्रह्म से इतर जीव सृष्टिकर्त्ता नहीं है क्यों कि इस अल्प अल्पज्ञ सामर्थ्य वाले जीव में सृष्टि कर्तव्य नही घट सकता। इससें जीव ब्रह्म नहीं। 'रसंहयेवायं लब्ध्वानन्दी भवति, यह उपनिषद का वचन है। जीव और ब्रह्म भिन्न है क्यों कि इन दोनो का भेद प्रतिपादन किया है। जो ऐसा न होता तो रस अर्थात आनन्द स्वरुप ब्रह्म को प्राप्त होकर जीव का निरुपण नही कर सकता। इसलिए जीव और ब्रह्म एक नही।"[1]

स्वामी दयानन्द ने उन सब विषयों पर पर्याप्त विस्तार के साथ विवेचन किया है जिनके सम्बन्ध में यह माना जाता रहा है। कि छः आस्तिक दर्शनों में मतभेद है। इन तथा कथित मतभेदों का युक्ति संगत रुप से निराकरण कर स्वामी ने छः दर्शनों में समन्वय के सिद्धांत का निरुपण किया है।

भारत के दार्शनिक चिन्तन में स्वामी जी का यह अत्यन्त महत्वपूर्ण देन है। सांख्य योग आदि आस्तिक दर्शनों के सिद्धांत में समन्वय स्थापित कर स्वामी जी ने वैदिक धर्म को एक अत्यन्त ठोस दार्शनिक आधार प्रदान कर दिया है।

This ideological approach has also enabled dayanand to establish a harmonious relationship among the six Darshanas, which are wrongly supposed to be different system & of Indian philosophy. They are essentially. as French philosopher. Rene Guenon has also said the six view points to approach the Vedic love dealing with the trinity of God. Soul and Matter interwoven in to the texture of universal and individual life at every

1. सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास 8, पृष्ठ–209

point. It is the realisation of this fact in full that constitutes the beautiful coexistences of the Aryan way of life"[1]

स्वामी दयानन्द परमाणुवाद और प्रकृतिवाद का सामजस्य करते है। वे पंचभूतों के मूल पंचतन्मात्रों को परमाणु की चरम सीमा कहते है, वहां तक परिमाणात्मक विश्लेषण पद्धति उपयुक्त होती है। स्वामी जी केवलेश्वरवाद। थीइज्म। केवलोपादानेश्वरवाद। पेन्थीइज्म। निमित्तोपादानेश्वाद। पेनन्थाइज्म। से भिन्न ईश्वरवाद। थीइज्म। की स्थापना करते है। इस ईश्वरवाद में अनेकेश्वरवाद को तो कोई प्रश्न नही उठता। इसमें पुरुष जीवात्म। से भिन्न पुरुषविशेष परमात्मा के रुप में ईश्वर की स्वीकृति है। वह निरपेक्ष ब्रह्म नही अपितु विशिष्ट व्यक्तित्व सम्पन्न ब्रह्म या ईश्वर है। इस प्रकार स्वामी दयानन्द विश्व के चरम सत्य का विश्लेषणात्मक अन्वेषण करते हुये ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीन अनादि तत्वों का व्यवस्थापन करतें है। इन तीन स्वयं सिद्ध चिरन्तर सत्ताओं की अवधारणा के कारण स्वामी दयानन्द के दर्शन को "त्रेतवाद" की संज्ञा दी गयी है।

"स्वामी सर्वेषां वेदानामीश्वरे मुस्यऽर्थे मुस्यतात्पर्य मस्ति।
तत्प्राप्ति प्रयोजना एवं सर्व उपदेशाः सन्ति ।।"[2]

इस प्रकार वेदो के ज्ञाता होने के कारण स्वामी जी को वैदिक दर्शन मान्य था। ईश्वर के विभिन्न रुपों को समरस एक समान मानने के कारण कुछ लोग उन्हें अद्वैतवादी कहते है। पदार्थ को ब्रह्म से अलग मानने के कारण लोग इन्हें द्वैतवादी कहते है लेकिन स्वामी जी अनेक तत्ववादी है। क्योंकि वे परमात्मा, जीवात्माओं और पदार्थो सभी को

---

1. सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास एकादश, पृष्ठ–285
2. ऋग्वेद भाष्य भूमिका, पृष्ठ–47

मूलतत्व मानते थे। स्वामी जी के अनुसार मनुष्य जीवन का अन्तिम उद्देश्य मुक्ति है लेकिन वे परमात्मा तथा जीवात्मा को अलग–अलग मानते थे। प्रकृति के मूलतत्व मानने के कारण इन्हें प्रकृतिवादी भी कहा जाता है। भौतिक जीवन की सुरक्षा के लिए कार्यरत होने तथा समाज सुधार करने के कारण इन्हें व्यवहारिकतावादी भी कहा जाता है। जीवन के प्रति स्वामी का दृष्टिकोण पूर्णरुपेण आदर्शवादी था। भूतपूर्व प्रधान मन्त्री पण्डित जवाहर लाल नेहरु स्वामी जी के दर्शन पर अपना मत व्यक्त किया।

"One of the most notable reform movements was started in the second half of the nineteenths century by a Guy rate. Swami Dayanand Sarswati but it look soot among the Hindus of the Punjab. This was the Arya Samaj and its slogan really meant an elimination of developments of the Aryan faith since the Vedas. The Vedanta Philosophy as it subsequently developed the central conception of monism the pantheistic outlook as well as popular and cruder developments all alike were severely condemned. Even the Vedas were interpreted in a particulars way"[1]

दर्शन तथा शिक्षा का सम्बन्ध

दर्शन तथा शिक्षा एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित है। दर्शन शास्त्र शिक्षा को प्रभावित करता है। और शैक्षिक विचारधाराओं दार्शनिक विचारों पर नियंत्रण रखती है। यही कारण है कि उच्च कोटि के दर्शनशास्त्री उच्चकोटि के शिक्षाशात्री भी रहे है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना जीवन दर्शन होत है। अतः स्वाभाविक है कि व्यक्ति दूसरों के दृष्टिकोण को प्रभावित करेगा दूसरों को इस प्रकार प्रभावित करना शिक्षा है।

---

1. जवाहर लाल नेहरुः 'डिसकवरी ऑफ इण्डिया' 1946 पृष्ठ–279

"Which in other words is the modification of natural development"[1]

शिक्षा तथा दर्शन में अविभाज्य तथा आन्तरिक सम्बन्ध है। दर्शन से उद्भूत होकर लक्ष्य को निर्धारित करता है तथा शिक्षा इन लक्ष्यों को प्राप्ति के साधन को संयमित करती है।

"Philosophy and education are like two sides of a coin the former is the contemplative side while the latter is active side Education is the influence of a person who a vital belief brought to bear on another person with the object of making him also hold that belief"[2]

प्रत्येक दार्शनिक तथा शिक्षाशास्त्री स्पष्ट मत के है कि शिक्षा के दार्शनिक आधारों के बिना समझे हुये, शैक्षिक विचार निष्फल होगा। दर्शन द्वारा ही शिक्षा में स्पष्टता, सत्यता तथा उपयोगिता का समावेश हो सकता है। जॉन डिमी ने व्यवहारिक दर्शन पर अपना दृष्टिकोण व्यक्त करते हुये लिखा है कि–

"Whenever philosophy has been taken seriously, it has always been assumed that it signified achieving a wisdom that would influence the conduct of life"[3]

दर्शन ने हमेशा शिक्षा के व्यवहारिक तथा सैद्धांन्तिक पक्ष को प्रभावित किया है। दर्शन जिन्दगी को एक दृष्टिकोण प्रदान करता है तथा शिक्षा विशुद्ध रुप से विकसित करता है।

---

1. पटेल, एम० एस० : द एजूकेशनल फिलॉसफी ऑफ महात्मा गांधी, पृष्ठ–4
2. रॉस ग्रेण्ड : 'वर्क्स ऑफ एजूकेशनल थियरी' पृष्ठ–161
3. जॉन डी वी : डेमोक्रेसी एण्ड एजूकेशन, पृष्ठ–252

"Philosophy embodies away of life education is preparation for life It is knowledge obtained by reason and other powers of mind"[1]

दर्शनशास्त्र शैक्षिक प्रक्रिया के लिये एक वथ प्रदर्शन का काम करता है, जब कि शिक्षा एक अनुसंधान का क्षेग होने के कारण कुछ इस प्रकार की प्रदत्त सामग्री को प्रस्तुत करती है जो दार्शनिक निर्णय का आधार होती है।

"Philosophy can not bring its theories in to existence merely by thinking them. This the art of education can do and in doing so can make education a laboratory where philosophical distinction can be empirically lasted."

चूंकि दर्शन जीवन के उद्देश्य को निश्चित करता है इसलिए शिक्षा के उद्देश्य को निश्चित करना भी स्वाभाविक है। शिक्षा जीवन के दार्शनिक दृष्टिकोण का सक्रिय वाहक है। जान डिवी का कथन है कि–

"Education is the laboratory in which Philosophical destinations became conerate and retested"

शिक्षा एक निरन्तर प्रगतिशील तथा साउद्देश्य नैतिक, रानैतिक, सामाजिक तथा सामुदायिक विकास का व्यवहारपरक रुप है जो विचार धाराओं सें उद्भुद एक प्रतिफल है। लेकिन शिक्षा की कला में बिना दर्शन के स्पष्टता नही आ सकती।

"Education without philosophy would be nothing but a blind effort and without education philosophy would be no better than a cripple"

---

1. ब्रबेकर : 'मार्डन फिलोसॉफिज ऑफ एजूकेशन' पृष्ठ–11

दर्शन के द्वारा ही शिक्षा का लक्ष्य तथा तत्व निर्धारित होता है। दर्शन से विरत रहने पर शिक्षा एक उद्देश्य विहीन प्रयास है।

"So long as education is not to be divorced from lifes educational philosophy must be increasingly exploited because the ultimate problems of life can not be tackled successfully by physical and social science along"[1]

प्राच्य तथा पाश्चात्य जगत में दार्शनिक प्रथमतः शिक्षक ही रहे है। वैदिक दृष्टा शिक्षक थे जिन्होंने ऋषिकुलों तथा गुरुकुलों की स्थापना की तथा वैदिक साहित्य तथा सभ्यता का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तान्तरित किया। उपनिषद तथा शतपथ ब्राह्मण में उन महान दार्शनिक शिक्षकों का नाम लिपिबद्ध है जिनमें महात्मा गौतम बुद्ध भी एक थे।

We can find the clearest examples of the dependence of education on philosophy in the lives and teachings of all the great philosophy from socreetees to John Dewey and frame vagnavalka to Gandhi"[2]

शिक्षा का अभिप्राय, उद्देश्य तथा सम्बन्धित अनुशासन पाठ्यक्रम शिक्षण पद्धतियां तथा शिक्षक दर्शनशास्त्र से ही अनुप्रणित होते है।

शिक्षा का दर्शन पर प्रभाव :

दर्शन शिक्षा से विकसित तथा प्रभावित होता है। शिक्षा दर्शन के निर्माण की आधारशिला है। दर्शन के निर्माण और विकास के लिये निरीक्षण विचार और चिन्तन शक्ति की आवश्यकता होती है। जिसकी

1. प्रेमनाथ : 'वेसेज ऑफ एजूकेशन,' पृष्ठ–37
2. पटेल एम० एस० : दि एजूकेशनल फिलॉसफी ऑफ महात्मा गांधी, पृष्ठ–51

सम्प्राप्ति मात्र शिक्षा से ही सम्भव है। दर्शन अपने सामान्य रुप में शिक्षा का सिद्धांत ही है। दर्शन तथा शिक्षा एक दूसरे के रुप है।

"Philosophy and education like the two sides of same coin present different views of same thing"[1]

जी० एम० पार्टीज ने इसी तथ्य को प्रकट किया है।

"It a very deep sense. It is quite as seasonable to say that philosophy is based upon education as education is based upon philosophy.

शिक्षा का दर्शन का अभिभाज्य चिरन्तर सम्बन्ध है। वे एक दूसरे के पूरक है। शिक्षा की प्रत्येक समस्या हल दर्शन में खोजा जा सकता है। इसी प्रकार दर्शन की प्रत्येक समस्या का समाधान शिक्षा द्वारा प्रस्तुत होता है। आर० आर० रस्क के शब्दों में–

"From every angle of the educational problem comes the demand for a philosophical basis of the subject. There is no escape farm a philosophy of life and of education. Those who pride themselves on their neglect of philosophy have their own philosophy usually a quite inadequate. Everyman as schopenhaur says is born meta physician"

प्राचीन भारतीय मनीषियों तथा आचार्यो ने गुरुकुल में अपने जीवन पर्यन्त वैचारिक अनुभवों को भावी पीढ़ी के विकास तथा निर्माण के लिये अनवरत तल्लीन रहा करते थे। गौतम बुद्ध ने शिक्षा क्रेन्दो के माध्यम से जीवन के आदर्शो तथा मूल्यों को अभिप्रेरित किया।

"The type of education imported in Guruculs and monasteries reflected the philosophical system of the day. During modern India. The

1. जे० एस० राँस : 'ग्राउण्ड वर्क ऑफ एजूकेशनल थियरी', पृष्ठ–47

Anglo-Vedic education imparted thought the country reflected the philosophy and the vision of Swami Dayanand"[1]

आर्य समाज के दस नियम

शिक्षा समाज के दस नियम स्वतः प्रामाण्य वेदों से उद्भूत है जिनके माध्यम से स्वामी जी ने भारत के अतीत के सभ्यता और संस्कृति को आधुनिक परिवेश में अभिव्यन्जित किया। ये दस नियम निम्नलिखित है।

1. सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते है, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

2. ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरुप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालू, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामयी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करने योग्य है।

3. वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना—पढ़ाना, सुनना—सुनाना, सब आर्यो का परम धर्म है।

4. सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छाड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

5. सब काम धर्मानुसार अर्थात सत्य और असत्य को विचार करके करना चाहिये।

6. संसार का अपकार करना, इस समाज का मुख्य उद्दश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

---

1. आर० एन० सफाया तथा डी० एन० भान—एजूकेशनल फिलाँसफी आँफ स्वामी दयानन्द, पृष्ठ—33

7. सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथोयोग्य बरतना चाहिये।

8. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

9. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में न रहना चाहिये किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

10. सब मनुष्य को सामाजिक, सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब परतन्त्र रहें।

आर्य समाज के दस नियम धार्मिक, सामाजिक तथा शैक्षणिक प्रगतियों के अभिनव सममिश्रण है प्रथम, तृतीय तथा अष्टम नियमों का शिक्षा से सीधा सम्बन्ध है।

प्रथम नियम में है विद्या तथा परमेश्वर का सीधा सम्बन्ध व्यक्त है जैसा कि डा० सरस्वती एस० पण्डित के कथन से स्पष्ट है।

It should be realized the Arya Samsj begins first with a fundamental faith in the existence of one true, ever lasting unincarnate God. Secondly God is the ultimate source of all true knowledge thirdly knowledge is the realization of truth that exists in and out side human bings.[1]

इसी तथ्य का समर्थन आचार्य वैद्यनाथ ने किया है–

"The Arya Samaj hits at the very essence of truth by emphasizing the fundamental correspondence between reality and knowledge. Being traced its eternal source. (I.E. God Truth is as it were idolized. The God of Arya Samaj. Is the God of truth."[2]

1. Dr. Saraswati S. Pandit, Page 70-71
2. Acharya Vaidya Nath Shastri, 'The Arya Samaj, its Cult and creed, Page-32

आर्य समाज के तृतीय नियम के अनुसार स्वामी जी ने वेदों को ही सभी ज्ञान का उद्गम बताते हुए इसे पढ़ने—पढ़ाने को कहा तथा इसी सन्दर्भ में डी०ए०वी० संस्थाओं तथा गुरुकुलों की स्थापना भी की गयी। इसके अतिरिक्त स्वामी जी ने व्यख्यानों, गोष्ठियों, वाद—विवादों तथा ग्रन्थ रचना द्वारा शिक्षा का प्रचार तथा प्रसार किया।

अष्टम नियम के अनुपालन में स्वामी जी ने हर माता—पिता का कर्तव्य इंगित किया कि वे अपने सन्तानो कपामे सुशिक्षा दे तथा शासन द्वारा शिक्षा को अनिवार्य करार दिया जाये। इस प्रकार आर्य समाज ने स्वामी दयानन्द सरस्वती के शैक्षिक दी कपामे प्रज्जलित किया तथा उनके आदर्शो तथा सिद्धन्तो के आधार पर देश—विदेश में शिक्षा—संस्थाओं का जाल सा बिछा दिया।

डा०एस० पण्डित ने इस संन्दर्भ में अपना अभिमत व्यक्त किया है।

"The Arya Samaj in consonance with its ten principles developed different goals of education. Their focus was on the cultural reclamation of the Indians who were being fast anglicesed and westernised and were looring their own cultural moonings. In order to attain the nation goals. The Arya Samaj turned to the developments of educational institutions based on the ancient pattern of the Gurukuls. These was a great urgency ti turn character building. Curriculum reorientation teaching and learning process. Compulsory education] equality of educational opportunity among the backwoed classes and the untouchables and among women and so on. The ten principles of the Arya Samaj gave them a basis of the reconstruction of education. The Arya Samaj kindled a new flame of Indian nationalism. A national system of education began to emerge. Thus the principles have rich educational implications."

स्वामी जी के समकालीन विचारक यह सोच भी नही सकते थे कि एक ऐसी भी शिक्षा पद्धति हो सकती है जिसके अनुसार शिक्षाप्राप्त कर भारतीय विद्यार्थी जहां नये ज्ञान–विज्ञान से पूर्ण परिचय प्राप्त कर सकें, वहां साथ ही साथ अपनी भाषा, अपनी संस्कृति और अपने धर्म का भी उन्हें पूर्ण ज्ञान रहें और भारतीयता के प्रति उनकी आस्था में न केवल हास्य हो अपितु अभिवृद्धि हो। ऐसे शिक्षा सिद्धांत का प्रतिपादन आधुनिक युग में केवल स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा ही किया गया।

स्वामी जी द्वारा प्रतिपादित शिक्षा सिद्धांत का उदय

न तो आर्य समाज के आधारभूत सिद्धांत और न तो स्वामी जी द्वारा विचरित सत्यार्थ प्रकाश और अन्य ग्रन्थ शिक्षा के सीधे एक मुश्त विचार को प्रतिपादित करते हैं, बल्कि स्वामी दयानन्द कि शैक्षिक विचारों का वास्तविक उद्‌गम आर्यसमाज के साहित्य तथा स्वामी जी के ग्रन्थों, भाषणों, वाद विवादों धर्म प्रचार, सम्मेलनों आदि में विखरे हुये विचारों कपामे संजोने तथा समायोजित करने से होता है। यद्यपि कि यह वास्तविकता है कि स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश के अध्याय दो तथा तीन में मात्र शिक्षा विषयक विचार प्रस्तुत किया है। लेकिन उसके भी शिक्षा के सीधे–सीधे परिभाषित नही किया गया है।

वैदिक परम्परा का अनुसरण करते हुये स्वामी ने मानवजीवन काल को चार भागों में विभक्त किया–

1. ब्रह्मचर्य आश्रम
2. गृहस्थ आश्रम
3. वानप्रस्थ आश्रम
4. संन्यास आश्रम।

स्वामी जी ने ब्रह्मचर्य आश्रम को विद्यार्थी जीवन माना। सत्यार्थ प्रकाश में उल्लिखित है–

"The vow of celibacy should be kept by students from 8^{th} to 26^{th} years of age or the vow may be kept for 18^{th} years with 8^{th} years of preschool life make 26^{th} years or. It may be kept for 9^{th} years till the acquisition of knowledge is completed "[1]

इसी ग्रन्थ के दूसरे पृष्ठ पर स्वामी जी कहते है–

"If a man keeps celibacy for 25^{th} years a woman should do it for 16^{th} years of age. If a man is celibate for 30^{th} years a woman should be so till 13^{th} years "[2]

इस प्रकार स्वामी जी के अनुसार उपनयन संस्कार माता पिता के पूर्व शिक्षा के आधार पर 8 वर्ष की आयु में पूर्ण होगा जो संतान का विद्यारम्भ काल होगा जिसकी निरन्तरता 24 वर्ष तक के वय की होगी। इनकी पुस्तक संस्कार विधि में उल्लिखित है, 8 वर्ष की अवस्था में ब्राह्मण का 11 वर्ष की अवस्था में क्षत्रिय का तथा 12 वर्ष की अवस्था में वैश्य का उपनयन तथा विचारधाम्य संस्कार सम्पन्न होगा जो पवित्र वेदो तथा सम्पूर्ण ज्ञान चक्र के प्राप्ति के प्रतिज्ञा का प्रतीक होगा।"[3]

इस प्रकार ब्रिटिश कालीन शिक्षा के विपरीत स्वामी ने प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति आधारित शैक्षिक विचार का प्रवर्तन किया। स्वामी जी देश की शिक्षा के एक ठोस आधार की संकल्पना धार्मिक तथा नैतिक परिवेश में करते है। उनके अनुसार, नैतिक तथा

1. सत्यार्थ प्रकाश–स्वामी दयानन्द सरस्वती, पृष्ठ–47
2. वही, पृष्ठ–49
3. वही, पृष्ठ–57

आध्यात्मिक मूल्यों से विरत शिक्षा सार्थक नही होगी। जिसका समर्थन श्री राम रतन करते है।

"Swami Dayanand had no sympathy for a system of education which neglected the most essential and endearing part of man and which divorced religion from morality character, building of which we hear so much in these days. Occupied a prominent place in his scheme of education but he held that true character building was not possible unless boys and girls were thought their duty to God and man"[1]

इस प्रकार दयानन्दीय शिक्षा की प्रथम विशेषता चरित्र निर्माण आमुख नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा है। स्वामी जी की शिक्षा केवल सुविधा सम्पन्न लोगों के लिए ही नही है। अपितु सार्वभौमिक तथा समानता पर आधारित लिंग तथा जाति भेद से रहित है।

"His vision was of an universal compulsory and free system of education when Swami Dayanand Conceived his system of education. The Dawnword Filtration theory in education still had its away"

ब्रिटिश शिक्षा व्यवस्था कुछ वर्गो के लिये भी तथा सामान्य जनता इसमें उपेक्षित रही। इस त्रुटि के प्रतिक्रिया स्वरुप दयानन्द सरस्वती ने ऐसी शिक्षा का बीजारोपण किया जो प्रौढ़ावस्था तक सार्वभौमिक तथा अनिवार्य होगी।

"In Swami Dayanand'S system of education. The rich and the poor. The high and low. The prince and the peasant. The high caste and the low caste. The Brahman and the so called untouchables all read together eat together. Live the same life. Under go the same discipline.

---

1. रामरतन–स्वामी दयानन्द सरस्वती एज ऐन एजूकेशनिष्ट, पृष्ठ–130

the state provides free and universal education not merely up to the primary stage. But for all the age of 36th or 38th the state is to provide for the education of the citizen. In shall we look elsewhere for a grand conception of the duty of the state in the promtion of education"[1]

जलवायु वातावरण तथा पर्यावरण दयानन्दीय शिखा व्यवस्था की तीसरी विशेषता है। शान्त तथा सुरम्य वातावरण में अवस्थित शिक्षालय विद्यार्थी कपामे प्रकृति के निकट साहचर्य में विद्यामृत पान स्थली बनेगे। अध्यापक प्रेरक, सुधारक तथा पथप्रदर्शक का एक शक्ति होगा।

"Sex education practical personal hygiene physical sturdiness, helth, courage, resourcefulness. Social service all these were natural outcomes of his system"[2]

"स्वामी दयानन्द के अंनुसार शिक्षक तथा शिक्षार्थी अटूट, अनिष्ट तथा आत्मिक सम्बन्ध होता है।

दयानन्दीय शिक्षा की चौथी विशेषता शिक्षा के माध्यम से की है, उन्होने हिन्दी कपामे शिक्षा का माध्यम माना तथा साथ ही साथ संस्कृत कपामे भी महत्व प्रदान किया। उनका तात्पर्य अन्य भाषाओं की उपेक्षा न होकर हिन्दी कपामे माध्यम रुप में अनिवार्यता की थी इस प्रकार स्वामी जी विदेशी भाषा के विरोधी नही थे। अपितु सम्पूर्ण देश की एक भाषा के हिमायती थे और वह भाषा केवल मात्र हिन्दी ही होगी।

"Dayanand advocated one languge for the entere India. He faurered Hindi. As that was the language understood amongst the larges

1. रामरतन, पृष्ठ–131
2. डॉ० एस० सरस्वती पण्डित, पृष्ठ–173

number of peple in India. His own mother tongue was Gujrati but the himself not only learbnt Hindi, but worte his fomous works"[1]

दयानन्दीय शिक्षा की पांचवी विशेषता यह है कि स्वामी जी प्राचीन वैदिक सभ्यता और संस्कृति पर आधारित शिक्षा का पक्षधर होते हुए भी पाश्चात्य शिक्षा की अच्छाइयों तथा गुणवक्ता की उपेक्षा नहीं कियें उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि वर्तमान वैज्ञानिकी तथा प्रौद्योगिकी प्रगति का उद्‌गम प्राचीन शिक्षा व्यवस्था में सन्निहित है अर्थात उन्होंने वेदों पर आधारित प्राचीन भारतीय भारतीय शिक्षा की अवधारणा नये आधुनिक परिवेश में इस ढंग से किया कि प्रगति के विभिन्न क्षेत्रों में नवीन आधुनिक उपलब्धियां यद्यपि कि पाश्चात्य शिक्षा जगत की देन है। तथापि प्राचीन भारतीय शिक्षा ही इनकी प्रेरक बनी। प्रसिद्ध शिक्षाविद बेन्जमीन वाकर ने इसी सन्दर्भ में अपना विचार व्यक्त किया है।

"Dayananad held that Indaia was the fountain head of all, both material and spiritual. He further held that all knowledge secular as well as religions emanated from the Vedas and that many of the scientury or two ago were seferred to in the Vedas. He was the most vocal of those modern Indian.

Scholars who seek to read in to the elementary concepts of the ancient texts the results of the most scientific advances, His follows believe that a careful reading of the sacred scriptures would reveal that the steam, engine, the aroplane and radio, the latest discoveries in medicine the chemical compositions of water. The microbes origin of disease and as other inventions and discoveries came in to view that television the Atom Bomb, Radar and so on were all known to the

1. गंगाराम गर्ग–वर्ल्ड परस्पेक्टिव जॉन स्वामीदयानन्द, पृष्ठ, 104–105

ancient resins, and that infinite number more are still available to interpret the hid den meanings embodied in the Vedic texts."[1]

स्वामी जी सत्यान्वेषी थे। उनके लिये ज्ञान सत्य का प्रतिनिधित्व करता है। अतः पाश्चात्य सभ्यता पर आधारित ज्ञान जहाँ कहीं भी सत्य पर आधारित है, उस हद तक उसका स्वागत स्वामी जी करते थे। उन्होंने उन भारतवासियों का स्वागत किया जो ज्ञान की खोज में विदेश जाते थे जबकि तत्कालीन भारत में समुद्र पार जाना निंदनीय तथा जाति बहिष्करण का आधार बन जाता था लेकिन स्वामी जी उस दयनीय स्थिति से व्याकुल थे जब भारतीय युवा पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित होकर अपने देश की सभ्यता तथा संस्कृति और पूर्वजों के धरोहर की उपेक्षा हीनता की भावना ग्रन्थि से युक्त होकर एक ऐसे नये धर्म को धारण करने में प्रवृत्त हो गया है जो उसे भारतीय जनमानस से दूर ले जाकर आंगल महप्रभुओं की भक्ति में अनुरक्त कर दिया जाने वाला था।

इस प्रकार की प्रवृत्ति कपामे समाप्त करने के लिये स्वामी जी ने दृढ़ अनुभव किया कि भारत का शिक्षा पद्धति ऐसी होनी चहिए जिससे विद्यार्थियों में अपने देश के गौरव के प्रति रुचि जागृत हो तथा राष्ट्रीय भाषा और मातृ भाषा के प्रति उनमें सम्मान का बीजारोपण हो सके। डा० सरस्वती एस० पण्डित ने महर्षि के अभिप्राय कपामे इस प्रकार व्यक्त किया है।

"A system of education which snaps the students natural bond of land of love and veneration for the land, its language its sociology, its economy and which senders him or her absolutely insensitive to its

1. बेन्जमीन वाकर–हिन्दू बर्ल्ड, पृष्ठ–270, लन्दन वाल्यूमए 1968

needs and problems is no good education and none can say that Swami ji's was wrong in his condemnation of such a distorted system of education."[1]

इस युग के अन्य सुधारक यह सोच भी नहीं सकतें थें कि एक ऐसी शिक्षा पद्धति भी हो सकती है जिनके अनुसार प्राप्त कर भारतीय विद्यार्थी जहाँ नये ज्ञान–विज्ञान से पूर्ण परिचय प्राप्त कर सके, वहाँ साथ ही अपनी भाषा, अपनी संस्कृति और अपने धर्म का भी उन्हें पूरा–पूरा ज्ञान रहे और भारतीयता के प्रति उनकी आस्था में न केवल कभी आये अपितु उसमें वृद्धि हो ऐसी शिक्षा प्रणाली का प्रतिपादन आधुनिक युग में केवल स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा ही किया गया। डा० सत्यब्रत राजेश ने स्वामी जी के शिक्षा सिद्धान्त को त्रिकाल मानते हुये कहा है, "स्वामी जी दयानन्द का शिक्षा दर्शन, वर्तमान शिक्षा की त्रुटियों से रहित तथा उसकी विशिष्टताओं से परिपूर्ण है, जो अतीत के लिये जितना लाभप्रद था उतना ही लाभदायक वह वर्तमान में है तथा उतनी ही आवश्यक तथा लाभदायक भविष्य में भी रहेगी। वे शिक्षा में ज्ञान, कर्म, उपासना तथा विज्ञान का समन्वय करके व्यक्ति के पूर्ण विकास का दिशा कर निर्देश कहते है। व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आत्मिक उन्नति उनके शिक्षा दर्शन के अंग है।"

"While Ram Mohan Roy pleenped for the western system of education as sponsored later on by lord macaulay. Diamond preferred to advocate. The Vedic system of education non excluding of the same time. The benefits of accidental education as supplemented by the growth of modern scientific knowledge for Diamond's over view was essentially universal and eternal He believed in life long and continuous

1. सरस्वती एस० पण्डित–ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ द आर्य समाज टु इण्डियन एजूकेशन, पृष्ठ 174–175

education. his basic aim being the regeneration of India. leading to the up life of the entire world"[1]

शिक्षा का अभिप्राय उद्देश्य, अनुशासन, पद्धति, शिक्षा और धर्म, शिक्षा और नारी शिक्षा, शिक्षा तथा राष्ट्रीय एकता आदि अवयवों पर स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचारों को अलग–अलग स्पष्ट करना समीचीन होगा। अब दयानन्दनीय शिक्षा के विभिन्न अवयवों पर विधिवत विचार किया जा रहा है।

---

1. जी० बी० हुआ–कुलपतिः 'वर्ल्ड परस्पेक्टि ऑन स्वामी, पृष्ठ 379–389